



स्व० ब्र० शीतलप्रसादजी
स्मारक ग्रन्थमाला नं० १८का
निवेदन

करीब ६०-७० ग्रन्थोंके लेखक, अनुवादक व टीकाकार व सम्पादक 'जैनमित्र' साप्ताहिकपत्रके व 'वीर' के सम्पादक व रात्रिदिन धर्मप्रचारार्थ भ्रमण करनेवाले श्री जैनधर्मभूषण ब्र० शीतलप्रसादजी (लखनऊ)का स्वर्गवास अब ६५ वर्षकी आयुमें वीर सं० २४६८ वि० सं० १९९८ में लखनऊमें हो गया तब हमने आपकी धर्मसेवा व जातिसेवा 'जैनमित्र' द्वारा अमर रखनेको आपके नामकी ग्रन्थमाला निकालनेकी १००००)की अपील 'जैनमित्र'में प्रगट की थी तो उसमें ६०००) भर गये थे तो भी हमने जैसे-तैसे प्रबन्ध करके यह ग्रन्थमाला आजसे २२ वर्षपूर्व प्रारम्भ की थी।

इस ग्रन्थमालामें प्रतिवर्ष १-१ ग्रन्थ 'मित्र'के ग्राहकोंको भेंट देनेका खर्च बहुत अधिक होता है अतः हमने 'जैनमित्र'के प्रत्येक ग्राहकसे प्रतिवर्ष १) अधिक लेनेकी योजना की थी जिससे ही यह ग्रन्थमाला चालू रह सकी है व चालू रखना ही है।

इस ग्रन्थमाला द्वारा आजतक १७ जैन ग्रंथ प्रगट करके 'जैनमित्र'के ग्राहकोंको भेंट कर चुके हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—

१-स्वतन्त्रताका सोपान (ब्र० शीतल कृत)	३)
२-श्री आदिपुराण (पं० तुलसीराम कृत छंदोबद्ध)	५)
३-श्री चन्द्रप्रभ पुराण (कवि हीरालाल बड़ौत कृत)	५)

४ श्री यशोधर चरित्र (महाकवि पुष्पदंतका अनुवाद) ३)
५-सुभौम चक्रवर्ति चरित्र (पं० लालारामजी कृत अनुवाद) ३)
६-श्री नेमिनाथ पुराण (पं० उदयलालजी कृत अनुवाद) ४)
७-परमार्थ वचनिका व उपादान निमित्तकी चिट्ठी १)
८ श्री धन्यकुमार चरित्र (हिंदी अनुवाद) १।)
९-श्री प्रश्नोत्तर श्रावकाचार (पं० लालारामजी कृत अनुवाद) ४)
१०-अमितगति श्रावकाचार (मूल व वचनिका) ४)
११-श्रीपाल चरित्र (भारामल्ल कृत छंदबद्ध) ३)
१२-'जैनमित्र' का हीरक जयंती सचित्र अंक ३)
१३-धर्मपरीक्षा (पं० पन्नालाल बाकलीवाल कृत-हिंदी अनुवाद) ३)
१४-हनुमान चरित्र (हनुमानाष्टक सहित) २)
१५-चन्द्रप्रभ चरित्र (हिंदी अनुवाद) २॥)
१६-महावीर चरित्र (हिंदी अनुवाद) ३)
१७-डॉ० कामताप्रसाद जैनका व्यक्तित्व व कृतित्व ३)

और अब यह १८ वाँ महान् आध्यात्मिक ग्रंथ
श्री नियमसार मूल व भाषाटीका सहित ३-५०
प्रगट किया जाता है



नियमसारका परिचय

यह नियमसार ग्रन्थराज आध्यात्मिक रसका मधुर और अभेदरत्नत्रयस्वरूप साक्षात् स्वानुभवमय मोक्षमार्गका प्रकाशक है। इसमें प्रथम व्यवहारनयसे और फिर निश्चयकी मुख्यतासे मुनिके प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त आदि षट् कर्मोंका स्वरूप बड़ी विद्वत्तासे किया गया है।

इस ग्रन्थराजके मूलकर्ता श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव हैं जो कि आचार्योंकी पट्टावलियोंमें प्रथम आचार्य गिने जाते हैं। तथा आप तत्त्वार्थसूत्र-मोक्षशास्त्र कर्ता श्री उमास्वामीके गुरु थे। आप विक्रम सं० ४९ में हुए थे व उमास्वामीका समय सं० ८१ माना जाता है जो कि गृद्धपिच्छाचार्य नामसे विख्यात हैं क्योंकि आपकी मयूरपीछी मार्गमें आपके हाथसे गिर गई थी तब आपने गृद्धपीछीसे अपना काम चलाया था।

श्री कुन्दकुन्दाचार्यकृत इस नियमसार प्राकृत ग्रन्थराजपर निर्ग्रन्थ मुनिराज श्री पद्मप्रभमलधारी देवने संस्कृतमें तात्पर्यवृत्तिकी रचना की थी जो हस्तलिखित ग्रन्थ श्री ब्र० शीतलप्रसादजीको जयपुरके चातुर्मासमें नागोरके भट्टारकजीसे सेठ बिरदीचंदजीने ब्रह्मचारीजीको चातुर्मासके समय भेंट किया था जिसको [illegible] ब्रह्मचारीजीने विचार किया कि इसकी हिन्दी भाषाटीका बनना बहुत उपयोगी होगा अतः आपने वीर सं० २४३८-३९ में इस ग्रन्थराजकी तात्पर्यवृत्ति परसे इसकी भाषाटीका [illegible] और यह ग्रन्थराज पं० नाथूरामजी प्रेमीने जैन-ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय बम्बई द्वारा आजसे ५० वर्ष पर प्रथमवार [illegible] जो कई वर्षोंसे मिलता ही नहीं था और [illegible] संग्रहालय रख छोड़ी थी जिसको पुनः प्रकट कर "[illegible]" ग्राहकोंको भेंट [illegible] व्यवस्था की है।

प्रथम आवृत्तिमें गाथाके साथ संस्कृत तात्पर्यवृत्ति १६० पृष्ठोंमें छपी है जिसको स्थानाभावसे हमने इस द्वितीयावृत्तिमें न लेकर सिर्फ मूल गाथा लेकर उस पर इस तात्पर्यवृत्तिकी ब्र० शीतलकृत हिन्दी भाषाटीका प्रकट की है इसमें मूल प्राकृत गाथाका सामान्य अर्थ लिखकर फिर संस्कृत टीकासे विशेष अर्थ लिखा गया है व भावार्थ भी दिया है तथा संस्कृत टीकाकारने प्रत्येक गाथाके अन्तमें बहुत सुन्दर संस्कृत श्लोक लिखे हैं उनका अर्थ भी 'टीकाकार कहते हैं' ऐसा लिखकर दे दिया गया है।

श्री ब्र० शीतलप्रसादजी संस्कृत प्राकृतके अच्छे जानकार थे व बड़े परिश्रमी थे। अतः आपने इस नियमसार ग्रन्थराजकी भाषा टीका प्रथम करके जैन समाजका बड़ा भारी उपकार किया है अतः यह ग्रन्थ वर्षोंसे मिलता ही नहीं था व जो अध्यात्म शास्त्रका भण्डार है अतः इसे ही हमने दूसरीबार प्रकट करके 'जैनमित्र' के ग्राहकोंको भेंट दिया है तथा कुछ प्रतियां विक्रयार्थ भी निकाली हैं जो कि 'मित्र' के ग्राहक न हों उनके लिये उपयोगी होंगी।

श्री नियमसार अध्यात्म ग्रन्थराजका पठनपाठन विशेष रूपसे होता रहे यही हमारी भावना है।

सूरत
वीर सं० २०९२
भाद्रपद सुदी ८
ता० २-९-६६

निवेदक—
मूलचन्द किसनदास कापड़िया,
—प्रकाशक।

विषयानुक्रमणिका





श्रीपरमात्मने नमः ।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्यविरचित

नियमसार

बालबोधिनी भाषाटीका सहित

भाषाकारकी ओरसे मंगलाचरण

दोहा ।

समयसार सतगुण प्रणमि, द्रव्य भाव हरषाय ।
'गौतम' गणधर गाय गुण, जिनवाणी उर ध्याय ॥१॥
'कुन्दकुन्द' मुनि चरण नमि, अनुभवके दातार ।
ज्ञानभानु-सम्यक्‌किरण, मिथ्यातम हरतार ॥२॥
नियमसार गुण-रत्नको, प्रगटायो सुखदाय ।
प्राकृतभाषामय मधुर, निजरस अनुभव दाय ॥३॥
'पद्मप्रभ मलधारि' ने, मुनि निर्ग्रन्थ स्वरूप ।
वर संस्कृत टीका रची, पद अरु शब्द अनूप ॥४॥
ताकी छाया लेयकर, तुच्छ बुद्धि अनुसार ।
प्राकृतकी भाषा करूं, बालबोध हितकार ॥५॥
निज अनुभवके कारणें, पर अनुभवके काज ।
चाह दाह जग छोड़कर, भजि मन वच जिनराज ॥६॥

संस्कृत टीकाकारके मंगलाचरणका भावार्थ

हे परमात्मन्! आपके होते मैं किस प्रकारसे मरे हो ऐसे अर्थात् संसारी जीवोंके सदृश जो मोहमें मुग्ध और कामदेवके आधीन हैं एसे ब्रह्मा विष्णु, महेश और बुद्ध देवोंको भज सकता हूं, इसलिये मैं जिनचन्द्रसूर्यको नमस्कार करता हूं। कैसे हैं प्रभु-जिन्होंने संसारका अंत किया है, जो मोक्षमार्गके नेता हैं, वाणीके स्वामी हैं तथा ज्ञान स्वरूप हैं। तथा मैं जिनवाणीको नमस्कार करता हूं, जो वाणी श्रीमुनीश्वरोंके द्वारा ऐसे श्रीजिनचन्द्रके मुख कमलसे प्रगट हुई है, तथा निश्चय और व्यवहार नयके द्वारा जिसमें वाच्य जो पदार्थ तिनके पूर्ण स्वरूपका कथन किया गया है।

तथा मैं सिद्धान्त समुद्रके पारगामी पवित्र सिद्धान्तरूपी श्रेष्ठ लक्ष्मीके पति श्रीसिद्धसेनको, तर्करूपी कमलके प्रफुल्लित करनेको सूर्य समान श्रीमद्भट्टाकलंकदेवको, शब्द समुद्रकी वृद्धिके लिये चन्द्रमाके समान श्रीपूज्यपादस्वामीको, तथा विद्याके पारगामी महामुनियोंमें इन्द्रके समान ऐसे श्रीवीरनन्दि आचार्यको नमस्कार करता हूं। मैं भव्य जीवोंको मोक्षमार्गमें लगानेके लिये तथा अपनी आत्माकी शुद्धिके लिये इस नियमसार ग्रंथकी 'तात्पर्यवृत्ति' नामकी वृत्ति कहूंगा। यह परमागम गुणके धारी श्रीगणधरदेवोंसे रचा गया है सो ही श्रुतके धारियोंकी परिपाटी द्वारा प्रगट किया गया है, ऐसे परमागमके अर्थके कहनेको मैं मन्दबुद्धि कैसे समर्थ हो सकता हूं। तथापि इस परमागमसारकी पुष्ट रुचि जो मेरेमें उत्पन्न हुई है उसीने मेरे मनको बारम्बार प्रेरणा की है।

पूर्वमें सूत्रकर्ताने पंचास्तिकाय, षट् द्रव्य, सात तत्त्व, और नव पदार्थोंका तथा प्रत्याख्यानादि षट् क्रियाओंका वर्णन किया है। अब अधिक विस्तार न करके मूल ग्रंथका विवरण करते हैं।

मूल ग्रन्थकर्त्ताका मंगलाचरण

णमिऊण जिणं वीरं, अणंतवरणाणदंसणसहावं।
वोच्छामि णियमसारं, केवलिसुदकेवलीभणिदं ॥ १ ॥

शास्त्रकी आदिमें कर्त्ताने असाधारण मंगल किया उसको कहते हैं जो पापको गलावे और सुखको देवे। असाधारण मंगलसे यह प्रयोजन है कि यह मंगल साधारण नहीं है, किंतु विशेष है। इस मंगलमें ही यह शक्ति है जो जीवात्माके अनादि कर्ममल पापको धोकर इस जीवको निज स्वस्थानकी सुख प्राप्त करा सकता है, इसीलिये यह असाधारण मंगल है।

सामान्य अर्थ—मैं कुन्दकुन्दाचार्य अनंत केवल ज्ञान दर्शन स्वभावके धारी ऐसे श्रीवीर जिनेन्द्रको नमस्कार करके केवली और श्रुतकेवलियोंसे कहे हुए ऐसे नियमसार परमागमको कहूंगा यह प्रतिज्ञा करता हूं।

विशेष अर्थ—अनेक संसारके दुःखरूपी वनमें भ्रमण करानेके कारण ऐसे जो समस्त राग, द्वेष, मोह आदिक विभाव भाव तिनको जो जीतता है उसका नाम 'जिन' है। 'वीरयति' अर्थात् कर्मरूपी शत्रुओंको जो पराजित करता है वह 'वीर' है। चौबीसवें तीर्थंकरके पांच नाम प्रसिद्ध हैं-श्रीवर्द्धमान, सन्मतिनाथ, अतिवीर, महावीर और वीर। ऐसे श्रीवर्द्धमान जिन ही परमेश्वर महा देवाधिदेव हैं। जो अपने निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शनसे पूर्ण होकर तीन लोकके चर अचर पदार्थोंकी समस्त पर्यायोंके जाननेको समर्थ हैं। यहां आचार्यने यह प्रगट किया है कि जो सर्वदर्शी सर्वज्ञ और वीतराग है वही आगमका स्वामी अर्थवक्ता प्राप्त हो सकता है। इसीको ही आगमकी व्याख्यारूप कार्यके प्रारम्भमें नमस्कार करना युक्त है। क्योंकि जो अर्हंत और किसी [illegible] ग और द्वेषको धरनेवाला [illegible]

सत्यार्थकल्याणकारी उपदेश नहीं दे सकता। परम हितोपदेशीपना उस परमौदारिक शरीरके धारी अरहंत-देवमें ही हो सकता है, जो जीव मुक्त अवस्थामें भाव मुक्तिको प्राप्त कर सर्वज्ञ और वीतराग गुणसे विभूषित है, जिसके क्षुधा, तृषा, जरा, रोग, जन्म, मरण, भय, विस्मय, राग, द्वेष, मोह, स्वेद, खेद, चिन्ता, रति, अरति, और निद्रा ऐसे अठारह दोष नहीं हैं। ऐसे आप्तके नमस्कार करनेसे आचार्यने यह दर्शाया है कि भव्यजीवोंको योग्य है कि ऐसे अरहंतको ही आप्त, देव, पूज्य, माननीय, सकल परमात्मा, परम सुखी और वर्णन करने योग्य समझें। नियमसारसे प्रयोजन यह है कि सम्यग्दर्शनचारित्ररूप जो नियम उसका सार जो शुद्ध रत्नत्रयस्वरूप आत्मा जिसका व्याख्यान करूंगा, यह आचार्यकी प्रतिज्ञा है। कैसा है नियमसार जिसको सकल प्रत्यक्ष केवलज्ञानके धारी और समस्त द्वादशांगरूप ग्रन्थश्रुतके पारगामी ऐसे श्रुतकेवली कह चुके हैं। इस वाक्यके कहनेसे आचार्यने यह दर्शाया है कि मैं जिस परमागमको कहूंगा, वह अपनी मनोकल्पितसे नहीं कहूंगा, किंतु जैसा मेरे गुरुने निरूपण किया है उसी अनुसार कहूंगा। यह नियमसार परमागम समस्त भव्य जीवोंके समूहोंका हितकारी है। इस तरह श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवने अपने [illegible] देवताकी स्तुति करके मंगल किया है।

टीकाकार कहते हैं कि इस जगमें श्रीमहावीरस्वामी जयवन्त होहु। कैसे हैं स्वामी जिन्होंने अपने शुद्ध भावोंके द्वारा कामदेवका नाश किया है जो तीन लोकके मनुष्योंसे पूज्य हैं, जिनके पास पूर्ण ज्ञानका एक राज्य है, जिनको देवोंके समाज नमन करते हैं, जिन्होंने संसार वृक्षके बीज राग द्वेषको नष्ट कर दिया है, जो केवलज्ञान दर्शन आदि लक्ष्मीके निवास हैं, तथा जो समवशरणमें विराजमान हैं।

आगे मोक्षमार्ग और उसका फल वर्णन करते हैं —

मग्गो मग्गफलंति य दुविहं, जिणसासणे समक्खादं।
मग्गो मोक्खउवायो, तस्स फलं होइ णिव्वाणं ॥ २ ॥

सामान्य अर्थ—जिनशासनमें मार्ग और मार्गका फल ऐसे दो भेद हैं, जिनमें मोक्ष प्राप्तिका उपाय जो सो मार्ग है, और निर्वाणकी प्राप्ति इस मार्गके सेवनका फल है।

विशेष अर्थ—यहांपर मार्गसे प्रयोजन शुद्ध रत्नत्रयसे है, जिसका फल मोक्षरूपी स्त्रीके स्थूल भालपर शोभायमान अलंकार रूप तिलकपनेकी प्राप्ति है, अर्थात् मोक्षका वरना है। जिनशासनसे प्रयोजन उस उपदेशसे है जिसको परम वीतराग सर्वज्ञ भगवानने तथा चार ज्ञानके धारी गणधरादि पूर्वाचार्योंने कहा है।

सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्रकी एकता मोक्षमार्ग है। कैसा है मोक्षमार्ग, जो परम निरपेक्ष निश्चयनयके द्वारा निज शुद्ध परमात्म-तत्वका यथार्थ श्रद्धान ज्ञान और अनुभव स्वरूप शुद्ध रत्नत्रयमय है। इस मार्गके मनन और सेवनसे जो निर्वाणफल प्राप्त होता है वह अपने आत्मस्वरूपकी सम्पूर्णतया प्राप्तिरूप है।

भावार्थ—निर्वाणको आत्माकी शांति तथा शून्य अवस्थाके कहनेवालोंके निराकरणके अर्थ यह विवेचन है कि निर्वाण प्राप्त होनेसे इस आत्माको अपने सच्चे स्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है। जब कर्मोंके पर्दे दूर हो जाते हैं, तब यह आत्मा स्वयं ही परमात्मा हो जाता है, और अपनी सत्तामें कायम रहकरके अपने अतीन्द्रिय परम आनन्दमय स्वभावको अनंतकाल भोगता रहता है।

यहां टीकाकार कहते हैं कि यह संसारीजन कहीं तो स्त्रीके रतिसे उत्पन्न जो सुख उसकी तरफ चला जाता है, कहीं रुपयेकी रक्षामें अपनी बुद्धिको कर लेता है, परन्तु जो बुद्धिमान पुरुष है सो जिनगुरुके धर्मका लाभ कर अपने आत्मस्वरूपमें रत होता है। ऐसा ही ज्ञानी इस मुक्ति अवस्थाको प्राप्त होता है।

आगे नियम शब्दके साथ सारका सम्बन्ध क्यों किया है, इसका प्रयोजन कहते हैं—

णियमेण य जं कज्जं, तण्णियमं णाणदंसणचरित्तं।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं, खलु सारमिदि वयणं ॥ ३ ॥

सामान्य अर्थ—नियम करके जो करने योग्य हो सो नियम है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र ही नियम है इससे विरुद्ध कोई नियम नहीं है। इसी लिए निश्चय करके सार ऐसा वचन कहा गया है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें नियम शब्दके सारपना दिखलानेके लिए स्वभाव रत्नत्रयका स्वरूप कहा है। जो सहज स्वाभाविक अपने उत्कृष्ट पारिणामिक भावमें ठहरा है, जो स्वभावसे अनंत दर्शन, ज्ञान, सुख वीर्यरूप ऐसे अनंत चतुष्टयस्वरूप है, तथा जो शुद्ध चेतनाका परिणाम है सो नियम है। नियम अर्थात् निश्चय करके जो प्रयोजनभूत करने योग्य कार्य है वह दर्शनज्ञानचारित्र है। इसका निश्चय स्वरूप ऐसा है कि भगवान परमात्माके अतीन्द्रिय सुखकी रुचि करनेवाले जीवमें शुद्ध अंतरंग आत्माके तत्वके आनन्दके उपजनेका स्थान अपने शुद्ध जीवास्तिकायका जो परम श्रद्धान-दृढ़ प्रतीति, सम्यक् निश्चय, सो ही दर्शन है। परद्रव्यका आलम्बन न करके अंतरंग अपना उपयोग रखकरके योगशक्तिकी निकटतासे अपने ही आत्मीक परम तत्वका यथा ज्ञान कि यही उपादेय-ग्रहण करने योग्य है सो ही ज्ञान है। तथा निश्चय दर्शनज्ञानमय कारण परमात्माके स्वरूपमें अविच्छिन्न अर्थात् लगातार उसके स्वभावमें तल्लीन या तन्मय हो जाना सो ही चारित्र है। ऐसे निजात्मीक तत्वकी सम्यग्रुचि उसीका यथार्थ ज्ञान तथा उसीमें एक रूपसे ठहर जाना सो ही नियम है। यही नियम निर्वाणपदका कारण है। कारण सदृश ही कार्य होता है।

स्वरूपमें स्थिरता करनेका अभ्यास ही वास्तवमें अनंतकाल तक स्वरूपमें स्थिर रह जानेका उपाय है। यही सार उत्तम उत्कृष्ट करने योग्य उपाय है। इसके सिवाय सब असार है, विपरीत है, हेय (त्याग योग्य) है। इससे उल्टा स्वरूप असार है, इस बातके बतानेके लिए सारपदको नियमके साथ रखनेका प्रयोजन है। इस प्रकार नियमसार शब्दकी सार्थकता वर्णन की। यहां टीकाकार कहते हैं कि मैं विपरीत स्वरूपसे रहित अनुपम सर्वश्रेष्ठ रत्नत्रय स्वरूपको प्राप्त करके मुक्तिरूपी स्त्रीसे उत्पन्न जो अतीन्द्रिय आनन्द-विलास तिसको प्राप्त करता हूं।

आगे कहते हैं कि रत्नत्रयका भेद करके कथन करना युक्त है—

णियम मोक्खउवायो, तस्सफल हवति परम णिव्वाण।
एदेसिं तिण्हं पिय, पत्तेय परूवणा होइ ॥ ४ ॥

सामान्य अर्थ—मोक्षका जो उपाय है सो नियम है और इस नियम धारनेका फल परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। नियम सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्ररूप है, इसलिये इन तीनोंका भी प्रगट अलग अलग वर्णन आगेके सूत्रोंमें किया जायगा।

विशेषार्थ—अनादि तथा सादि कालसे संसारी आत्माके लगे हुए समस्त कर्मोंके छूट जानेसे जो सदा निरुपम, अविनाशी, अतीन्द्रिय आनन्दकी प्राप्ति होती है वही सदा आनन्दस्वरूप परम निर्वाण अर्थात् मोक्ष है। तथा आत्माकी अभेद रत्नत्रयरूप जो परिणति है सो ही इस महान पदकी प्राप्तिका उपाय है। परन्तु इस अभेद रत्नत्रयका स्वरूप भेद-रत्नत्रयके जाने बिना अपने अनुभवमें नहीं आ सकता, इसीलिये आचार्य दर्शन ज्ञान चारित्रको भिन्न भिन्न प्रतिपादन करनेकी प्रतिज्ञा करते हैं।

आगे व्यवहार सम्यग्दर्शनको कहते हैं—

अत्तागमतच्चाण, सद्दहणादो हवेइ सम्मत्त।
ववगयअसेसदोसो, सयलगुणप्पा हवे अत्तो ॥ ५ ॥

सामान्य अर्थ—आप्त अर्थात् आगमके ईश देव, आगम अर्थात् जिनवाणी तथा आगममें वर्णन किये हुए तत्त्व इन तीनोंके श्रद्धान करनेसे व्यवहार सम्यग्दर्शन होता है। तथा आप्त वही है जो सम्पूर्ण दोषोंसे रहित और सम्पूर्ण गुणमय है।

यहां टीकाकार कहते हैं कि मुनियोंके लिये शुद्ध रत्नत्रय स्वरूप अपने ही आत्माका होना मोक्षका उपाय है, अन्य न तो कोई दर्शन है न ज्ञान है और न चारित्र है। ऐसा ही सवारसे शुद्ध श्रीअरहन्त भगवानने कहा है। ऐसा जानकर भव्यजीव फिर कभी किसी माताके उदरमें नहीं जाता है, अर्थात् गर्भ जन्मके संकटोंसे छूट जाता है।

विशेष अर्थ—आप्त अर्थात् पूजनेयोग्य देव अथवा आगमका वक्ता सम्पूर्ण मोह राग द्वेषादिक दोषोंसे निर्मुक्त है और सर्वज्ञ वीतराग आदि आत्मीक गुणोंसे विभूषित है। ऐसा गुणवान् वक्ता ही परके हितरूप उपदेशको यथार्थ दे सकता है। इसके अतिरिक्त जो राग और द्वेष तथा स्नेह, भय, काम, निद्रा, जगत्कर्तृत्व, जगतके जीवोंको दण्ड देनेका गुण इत्यादि दोषोंसे लिप्त हैं उनके वचन यथार्थ वीतरागरूप नहीं हो सकते। वीतरागीहीके वचन वीतरागरूप हो सकते हैं। इसलिये सत्यार्थ आप्त श्री अरहन्त भगवान् हैं, जिनकी ध्यान प्रतिमाको देखकर तथा पूजन कर परम वीतरागरूप निमित्तका लाभ व मिलनेसे भव्यजीव अपने भावोंको उज्ज्वल विशुद्ध और वैराग्यमय करते हैं।

ऐसे सत्यार्थ आप्तके मुखकमलसे प्रगट होनेवाली जो दिव्य

पदेशमय दिव्य ध्वनि, जो ही समस्त पदार्थोंके विस्तारके समर्थनमें प्रवीण ऐसा आगम है। अन्तरंग तत्त्व परमात्मा तथा बाह्य तत्त्व परमात्म स्वरूपसे भिन्न पदार्थ, ऐसे दो तत्त्व हैं, अथवा जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्त्व हैं। इन तत्त्वोंके प्रदर्शन करानेवाले आगम हैं। आगमके द्वारा इन तत्त्वोंका स्वरूप जानना बहुत कार्यकारी है। इसीलिये सत्यार्थ आगम और तत्त्वोंके यथार्थ श्रद्धान करनेसे सम्यग्दर्शन होता है। सबसे प्रथम यही उपादेय है कि वीतराग सर्वज्ञको भले प्रकार अपना हितू मानें। जब अपने अंतरंगमें आप्तका निश्चय हो जायगा तब सहज ही आगम और तत्त्वोंका निश्चय जम जायगा। इसीलिये निर्दोष आप्तमें श्रद्धा करना ही सम्यक्त्वका प्रबल उपाय है। यहां टीकाकार कहते हैं कि हे संसारके भयको मिटानेवाली जिनवाणीरूप भगवती! जो इस लोकमें तेरी भक्तिको नहीं करता है वह संसार समुद्रके मध्यमें जो दुःखरूपी ग्राह है उसके मुखमें चला जाता है।

आगे आप्त अठारह दोषोंसे रहित होता है, इसलिये १८ दोषोंके नाम कहते हैं –

छुहतण्हभीरुरोसो, रागो मोहो चिंता जरा रुजा मिच्चू।
स्वेद खेद मदो रइ, विम्हियणिद्दा जणुव्वेगो ॥ ६ ॥

सामान्य अर्थ—ऊपर गाथामें वर्णन किया हुआ आप्त १८ दोषोंसे रहित होता है, उस आप्तके क्षुधा, तृषा, भय, क्रोध राग, मोह, चिंता, जरा, रोग, मृत्यु, पसीना, खेद, मद रति, आश्चर्य, निद्रा, जन्म, आकुलता ऐसे १८ महादोष नहीं होते हैं।

विशेष अर्थ—असाता वेदनी कर्मके तीव्र तथा मंद उदयसे चित्तमें क्लेशका होना सो क्षुधा अर्थात् भूखकी पीड़ा है। केवली

अरहंतके मोहनी कर्मके अभाव होनेसे वेदनी कर्म क्षुधा उपजानेको समर्थ नहीं है। वेदनीय कर्म मोहकर्मकी प्रकृति रति तथा अरतिके साथ ही परद्रव्यसम्बन्धजनित सुख तथा दुःख वेदन करानेको समर्थ है। मोहके नाशसे जब वीतरागी प्रभु अपने ज्ञान दर्शन स्वरूपमें तल्लीन हो गये और अतीन्द्रिय अनन्त सुखका स्वाद लेने लग गये तब उस अनुभवरसाईके उपयोगको हटाकर क्षुधाकी वेदना कराना और फिर क्षुधाका दुःख मिटकर साताका होना यह बात संभव नहीं है। अन्तरायके नाशसे अनन्त बलके धनीको क्षुधासम्बन्धी निर्बलता नहीं पदा हो सकती है।

इसी कारण साधारण मनुष्योंके समान आहार अर्थात् चार प्रकारके भोजनमेंसे किसीका भी ग्रहण केवली भगवान्के नहीं है। उनकी देह परमौदारिक हो जाती है, जिसकी स्थिति शुद्ध नोकर्मवर्गणाओंके ग्रहणसे ही हो जाती है। अनन्त चतुष्टयके स्वामीको क्षुधाका दोष कहना उनके अनंत चतुष्टयमें बाधाका देना है। इसलिये स्वामीके स्वानुभव भोजन ही है, जो उनकी अनादि कालकी गम्भीर क्षुधाको समय समय मेट रहा है। असाता वेदनी कर्मके तीव्र, तीव्रतर, मंद और मंदतर उदयके वशसे पीड़ाका पैदा होना जो तृषा अर्थात् प्यास है, सो भी प्रभुके सम्भव नहीं है। आत्मीक रसके पीनेवालेको क्षणिक प्यासको बुझानेवाले जलकी इच्छा कैसे हो सकती है? इस लोक, परलोक, अरक्षा, अगुप्ति, मरण, वेदना, आकस्मिक ऐसे सात प्रकारके भयका नाम भय है, सो प्रभुके शरीर भोग, इन्द्रियजनित सुख तथा धन, धान्य, कुटुम्ब, घर, जमीन, चांदी, सुवर्ण आदिसे किसी प्रकारकी मूर्छा नहीं है। क्योंकि प्रभुने चारित्रमोहनी और दर्शनमोहनी दोनोंका सर्वथा नाश कर डाला है इससे भी जिनेन्द्र सब भयसे रहित अत्यंत निर्भय हैं। क्रोध कषायके उदयसे तीव्र परिणामका होना

सो रोष अर्थात् क्रोध है। यह भी क्षुधादिक शत्रु प्रभुके नहीं हो सकता। क्योंकि प्रभुने इस क्रोध कषायको सबका ही नाश अपनी पूर्व अवस्थामें अर्थात् अनिवृत्तिकरण नवमें गुणस्थानमें कर दिया है।

राग दो प्रकारका है एक प्रशस्त अर्थात् शुभ। दूसरा अप्रशस्त अर्थात् अशुभ। दान, शील, उपवास, गुरुजनोंकी वैयावृत्य सेवा आदि शुभ कार्योंमें प्रवर्तनेवाला जो उपयोग सो प्रशस्त राग है और जो राज, चोर, भोजन इन चार लोगोंकी कथाओंके सुननेमें कौतूहल रूप हो आन इका मानना सो अप्रशस्त राग है। सो यह दोनों ही प्रकारके राग प्रभुके नहीं हैं। क्योंकि प्रभुका राग निवृत्तीके साथ मोहा करनेमें उपयुक्त है। चार प्रकार संघ अर्थात् ऋषि, यति, मुनि, अनगार इनकी तरफ वात्सल्य भावका होना सो मोह है। सो आत्माके मोहीके परमेष्ठिकृत मोहका सम्भवपना नहीं हो सकता। शुभ विचार करना सो प्रशस्त चिंता है। यह धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप है। अशुभ विचार करना सो अशुभ चिन्ता है, यह आर्त्तध्यान और रौद्रध्यानरूप है। सो प्रभुके स्वरूपनिष्ठताके होनेसे इस चिन्ताका प्रवेश नहीं है।

यद्यपि शुक्लध्यान कहा जाता है, परन्तु यह कथन मात्र उपचारसे है। सो वीतरागी अर्थात् सुनीक चिन्ता होनेसे सुखमें विक्षेप पड़ सकता है। सो प्रभुके चिन्ता नहीं है, इसी लिये सुखमें विघ्न नहीं है। तिर्यंच और मनुष्योंके औदारिक शरीरका आयु कमके हानेके निमित्तसे जरा हो जाना अर्थात् बूढ़ा हो जाना सो जरा है। अनन्तबलके धारी कोटिसूर्यसे अधिक प्रभावाले शरीरमें जराका स्वप्नमें भी प्रवेश नहीं हो सकता। प्रभुके जरा कैसा [illegible] होते नहीं है। वायु पित्त, कफके विषमतासे पैदा हुई शरीरमें पीड़ा उसीका नाम रोग है। सो परमौदारिक महाप्रभु हर निश्चल शान्त ध्यानाकार शरीरमें किसी तरह भी नहीं

उत्पन्न हो सकता। आदि और अंतसहित मूर्तीक, इन्द्रियोंकरके चिह्नित, आत्मीक जातिसे विलक्षण विजातीय नर, नारक, तिर्यंच, देवादि सम्बन्धी विभाव व्यंजनपर्याय अर्थात् औदारिक और वैक्रियक शरीरका जो नाश अर्थात् आत्माके सूक्ष्म कार्माण शरीरसे अलग हो जाना सो मरण है। सो प्रभुके परमौदारिक देहका छूटना कार्माण देहके साथ साथ होता है, इससे उनके संसारी जीवोंके समान मरण नहीं है। संसारियोंकी पर्यायका छूटना एक नवीन विभाव व्यंजनपर्यायरूप जन्म लेनेके लिए होता है। मरण जन्म करके सहित है। तथा स्वाधीन आत्माका अब किसी भी देहमें उपजना नहीं है, इसी कारण प्रभुके मरण अथवा मरण सम्बन्धी वेदना व्यापती नहीं। †

अशुभ कर्मोंके उदयसे शरीरमें परिश्रमके होनेसे दुर्गंधरूप जलादि बूंदोंका प्रगट होना सो स्वेद अर्थात् पसीना है। सो स्वरूपवान दिव्य परम शुद्ध शरीरधारीके सम्भव नहीं है। जो वस्तु अपनेको अप्रिय है उसके लाभमें जो रंज करना सो खेद है, सो परिग्रह तथा मूर्छारहित स्वरूपानंदी स्वामीके खेदका प्रकाश कभी संभव नहीं है। सहज कविताकी चतुराई, सम्पूर्ण मनुष्योंको सुननेमें आनंद हो ऐसी वचनकी पटुता, मनोज्ञ शरीर, उत्तम कुल, अतुल बल, अनुपम ऐश्वर्य आदिके होनेसे आत्माके भावमें अहङ्कारका होना सो मद है। ऐसा मद क्षायकसम्यक्त्वधारी, शरीरादिपरद्रव्य परिग्रहत्यागी तथा निज आत्माके उत्कृष्ट मार्दवगुणमें व्यापकके किसी भी प्रकारसे नहीं हो सकता। मनको प्यारी वस्तुओंमें गाढ़ प्रीतिका होना सो रति है। शिवनारीमें रति करनेवाले, परम वीतरागी, सकलविकल्पव्यापारधारी मनके अभावको रखनेवाले प्रभुके अपनी निज अनुभूतिसे जो रति है, परन्तु उसके सिवाय अन्य किसी भी परद्रव्य, परगुण व परपर्यायसे प्रीति नहीं है। परम समरसी भावनासे दूरवर्ती पुरुषोंको कभी किसी अपूर्व

वस्तुको जिसको पहले नहीं देखा है देखनेसे विस्मय अर्थात् आश्चर्य है।

तीन लोक तथा अलोकको भूत, वर्तमान, और भविष्य सर्व द्रव्योंकी सर्व अवस्थाओंको अपने केवल दर्शन और ज्ञानसे एकही कालमें देखने जाननेवालेके ऐसा कोई पदार्थ व उसकी कोई ऐसी पर्याय ही नहीं है जिसको कि अपूर्व कहा जाय। जब प्रभुके लिये कोई अपूर्व वस्तु ही नहीं है तब प्रभुके विस्मय दोष नहीं हो सकता। केवल शुभ कर्मोंके वशसे देवगतिमें, केवल अशुभ कर्मोंके निमित्तसे नर्कगतिमें, मायाचार करके तिर्यंचगतिमें व शुभ अशुभ मिश्रकर्मके वशसे मनुष्यगतिमें जाकर जीवका शरीरको ग्रहण करना सो जन्म है।

प्रभुने चारोंगतिमें जानेके कारणरूप भावोंका ही नाश कर दिया है। न प्रभुके देवआयुके बंधके कारण सराग संयम, असंयम, अकामनिर्जरा, बालतप आदिके भाव हैं, न जिनेन्द्र श्रेणीके नीचे स्थिति है, जहां ही देवायुका बंध होता है, न स्वामीके मोह कर्मके उदय सामान्यसे नरकायुबंधक कारण बहु आरम्भ और बहुपरिग्रह रूप भी भाव हैं, न वीतरागीके तिर्यंचायु बंधका कारण माया है और न अटल सुख भोक्ताके अल्प आरम्भ, अल्प परिग्रहके भाव हैं और न साधारण मार्दव न साधारण सम्यक्त्व है, इसी लिये प्रभु जन्म अथवा अवतारधारण की कलेशसे मुक्त हैं।

दर्शनावरणीय कर्मके उदयसे ज्ञानज्योतिका अचेत हो जाना ही निद्रा है। श्रीअर्हद्देव परमेष्ठिने पहले ही दर्शनावरणीय कर्मका नाश कर डाला है, इसलिये निरंतर निज स्वरूपावलोकनमें जागृत हैं, उस समय भी अचेतनको भजते नहीं। इष्ट चेतन तथा अचेतन अथवा मिश्र पदार्थोंसे वियोग प्राप्त करके घबड़ाहटके [illegible] जो उद्वेग अर्थात्

प्रभुने समस्त पदार्थोमें समरसी भावका आलम्बन किया है, इससे यह आकुलता संभव नहीं है। इत्यादि १८ महादोष हैं जिन दोषोंको करके समस्त तीन लोक व्याप्त हो रहा है, अर्थात् तीन लोकके सर्व ही जीव इन दोषोंसे ग्रसित हैं।

इन्द्र धरणेन्द्र, नवग्रह, भवनवासी व्यन्तर, यक्ष, यक्षिणी, चंडिका, अम्बिका, क्षत्रिकर, चक्रवर्ती, मंडलेश्वर महाराजा, राजा सेठ, धनी, पंडित, मूर्ख, दरिद्री, रोगी, कामी, सिंह, व्याघ्र हाथी, मोर, मूषक तथा समस्त नारकी इत्यादि समस्त संसारी जीव १८ दोषोंसे भी व्रत हैं। इन महादोषोंसे सर्वथा रहित श्रीवीतराग सर्वज्ञदेव ही हैं, इसी लिये वही सच्चे आप्त देव, पूजनीय माननीय और भजनेयोग्य हैं। ऐसा ही आप्तका शरण हमको मोक्षमार्गका देनेवाला है। जैसा एक आचार्यने कहा है—

"धर्म वही है जहां दया है तप वही है जहां विषयोंका निग्रह है, तथा देव वही है जो १८ दोष करके रहित है। इस विषयमें शंका नहीं करनी।" ऐसा ही श्रीविद्यानंदिस्वामीने भी कहा है कि "अभीष्ट फल जो मुक्ति जिसकी सिद्धिका उपाय आत्मज्ञान है। आत्मबोध सुशास्त्रसे होता है और सुशास्त्रकी उत्पत्ति आप्तसे होती है, इसी कारण बुद्धिमानोंके द्वारा वही पूजने योग्य होता है। क्योंकि सज्जन पुरुष अपने ऊपर किये हुए किसीके उपकारको भूलते नहीं है।"

अभिप्राय यह कि सर्वज्ञ निर्दोष परम हितोपदेशी आप्त ही अन्य जीवोंका परमोपकारी है, इसलिये आत्मकल्याणके इच्छुकोंके वही ध्यान करनेयोग्य है। यहां टीकाकार कहते हैं कि श्रीनेमिनाथस्वामी हमको निरंतर सुख करहु। कैसे हैं स्वामी जो सौ इन्द्रनिकरि पूज्य हैं। अतिशयरूप सम्यग्ज्ञानका पाया राज्य जिन्होंने, कामविजयी ऐसे लौकान्तिक देवोंके नाथ हैं

दुष्ट कामदेवके समूहको जिन्होंने विध्वंस किया है जिनके चरणोंको सादर बारम्बार नमस्कार करता हूं, जो भव्यजीव कमलोंके प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान हैं तथा जो ज्ञानरूपके धन हैं। ६॥

आगे सर्वोत्कृष्ट परम देवका स्वरूप और भी कहते हैं—

णिस्सेसदोसरहिओ, केवलणाणाइपरमविभवजुदो ।
सो परमप्पा उच्चइ, तव्विवरीओ ण परमप्पा ॥ ७ ॥

सामान्य अर्थ—जो सम्पूर्ण दोषोंसे रहित है और जो केवल ज्ञान आदि परम ऐश्वर्यसे संयुक्त है वही परमात्मा कहा जाता है। इससे जो विपरीत अर्थात् विरुद्ध है वह परमात्मा नहीं है।

विशेषार्थ—आत्माके गुणको घात करनेवाले ज्ञानावरणी दर्शनावरणी मोहनी ऐसे चार घातिया कर्म हैं। इनका सर्वथा नाश कर देनेसे वह परमात्मा सबदोष रहित है, अथवा पूर्वोपार्जित १८ महादोषोंके निर्मूलन कर देनेसे वह परमात्मा निर्दोष है। सम्पूर्ण पदार्थ विषयक केवलज्ञान, केवलदर्शन, परम वीतरागमय परमानन्द आदि अनेक अंतरंग विभव और अष्टमहाप्रातिहार्य बहिरंग विभूतियुक्त वह परमात्मा अतिशय करके सुशोभित है। तथा जो निर्दोष और विभवयुक्त होने पर भी कार्यपरमात्मा है, अर्थात् तीन कालमें सम्पूर्ण आवरणों करके रहित, नित्य, आनन्दमय, एकस्वरूप, निजकारण परमात्माकी भावनासे उत्पन्न हुआ ऐसा कार्य परमात्मा वही भगवान् अर्हंत परमेश्वर है। इस भगवान् परमेश्वरसे विपरीत गुणके धारी सर्व ही देवाभास जो देवपनके अभिमानसे दग्ध हैं, परन्तु देव नहीं वे सब ही संसारी हैं।

श्रीकुन्दकुन्दाचार्य दूसरे ग्रन्थमें एक गाथामें कहते हैं—

“जिस देवका तेज [illegible]

तथा तीन लोकमें प्रधानपना है ऐसी महिमाका धारी ही अरहंत होता है।" श्री अमृतचन्द्रसूरि कहते हैं —"जो अपनी कांतिसे दशों दिशाओंको उज्वल करते हैं, जो अपने तेजसे बड़े बड़े तेजधारियोंके तेजको रोकते हैं, जो अपने रूपसे मनुष्योंके मनको हरते हैं, जिनकी दिव्यध्वनिसे कानोंमें मानों साक्षात् अमृत बरसता है ऐसा सरस होता है, वे ही १००८ लक्षणके धारी तीर्थंकर भगवान वन्दना योग्य हैं।

भावार्थ यह कि श्री अरहंत परमात्माको अपना परोपकारी समझके उनको ही आप्त मानके पूजना वन्दना योग्य है।" यहां टीकाकार कहते हैं कि जिस अरहंतके ज्ञानरूपी कमलमें भ्रमरके समान यह लोक और अलोक नित्य स्पष्टपने प्रतिभासमान है ऐसे श्रीनेमिनाथ भगवानको मैं निश्चय करके वन्दन करता हूं। उसी प्रभुके प्रसादसे मैं तीव्र तरंगवाले संसार समुद्रको अपनी दोनों भुजाओंसे तर जाऊंगा।

आगे परमागमका स्वरूप कहते हैं—

तस्स मुहग्गदवयणं, पुव्वावरदोसविरहियं सुद्धं ।
आगममिदि परिकहियं, तेण दु कहिया हवंति तच्चत्था ॥

सामान्य अर्थ—ऊपरकी गाथामें कथित श्री अरहंत परमात्माके मुखसे निकले हुए वचन पूर्वापर दोष करके रहित हैं, और शुद्ध हैं, उसीको आगम कहते हैं। उसी आगममें तत्त्वार्थोंका वर्णन किया गया है।

विशेष अर्थ—निश्चय करके उसी परमेश्वरके द्वारा परमागमका उद्योत हुआ है। कैसा है परमागम, जो श्रीअरहंतके मुखकमलसे निकले चतुर वचनरचनाका समूहरूप पूर्वापरदोषसे रहित है। श्रीअरहंत आप्त सर्वज्ञ वीतराग हैं, इसी लिये उनके वचनोंके कथनमें ऐसा दोष नहीं है कि पूर्वका कथन आगेके कथनसे सदोषी

हो जाय। जो अन्यमत शास्त्रके कर्ता होते हैं उनके शास्त्रोंमें यह दोष दीख पड़ता है कि एक स्थानमें जिसको पुष्ट किया है, उसीको दूसरे स्थानमें बिना किसी विशेष अपेक्षाके शिथिल कर दिया है अथवा निराकरण कर दिया है, परन्तु सर्वज्ञ वीतरागकथित परमागममें यह दोष नहीं है। तथा जो परमागम हिंसादि पापक्रियाकी पुष्टिके अभावसे शुद्ध है, क्योंकि निर्मल वीतराग भगवान्‌के द्वारा कहा है। वे भगवान् कदापि भी हिंसाका समर्थन नहीं कर सकते। इसी परमागममें जीवादि सात तत्त्व और नव पदार्थोंका कथन है। कैसा है परमागम, अमृतरूप है, जिसके रसको भव्य जीव कानरूपी अंजलीसे पीते हैं फिर कैसा है, मुक्तिरूप स्त्रीके मुखका दर्पण है अर्थात् जिसको देखनेसे मुक्तिका स्वरूप प्रगट होता है। यही परमागम संसाररूपी महासमुद्रमें डूब रहे जो समस्त भव्यजन उनको हस्तावलंबन देनेको समर्थ हैं। यही महत् वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि है, अर्थात् वैराग्यकी शोभा परमागमके द्वारासे ही है। निर्मल मोक्षरूपी महलमें पहुंचनेके लिये यह परमागम है। अर्थात् काम भोगकी तृष्णासे कारण अशुभ रागके अगाधीय जलते हुए समस्त दुःखजनीक महान् क्लेशोंको नाशनेको समर्थ जलसे भरे मेघोंके समान यह परमागम है।

भावार्थ—इस संसारके क्लेशसे पीड़ित जो जीव उनके लिये परमागमका अभ्यास परम शरण है। परमागमके जीव अजीव पदार्थोंको यथार्थ ज्ञान अथवा अनादि अज्ञानको छोड़कर आत्मज्ञानको कर सकता है। तथा आत्मज्ञानमें स्थिर होनेहीसे जीवको निर्मल भावोंकी शुद्धि होती है, इसलिये सर्व जीवोंको शास्त्रका पठन-पाठन, श्रवण, मनन, चिन्तवन, अनुभवन तथा व्याख्यान निरन्तर कर्तव्य है। प्रमाद छोड़कर इस अभ्यासमें प्रवर्तना योग्य है। श्रीसमन्तभद्राचार्यने कहा है—"आगमका ज्ञान इसीका नाम है कि आगमके अर्थको न तो कम न अधिक न विपरीत न सन्देहयुक्त जैसाका तैसा यथार्थ जानना।"

इसलिये भव्य जीवोंको उचित है कि परमागमका सर्वज्ञ वीतरागका कथित मानकर उसके कथनोंमें सन्देहरहित हो विश्वास धारकर अपना कल्याण करें। जिनवचन मनोज्ञ हित कारक अमृतफलको फलते हैं।

यहां टीकाकार कहते हैं कि मैं प्रतिदिन जिनेन्द्रकी वाणीको नमस्कार करता हूं। कैसी है वाणी प्रधान रुचिर अर्थात् मनोहर है, शुद्ध है, निर्वाणका कारण जो रत्नत्रय उसकी प्राप्तिका उपाय है, सम्पूर्ण प्राणियोंके कानोंको सींचनेके लिये अमृत है। भवभवके जंगलमें पड़नी हुई अतिप्र वीर्यवान मनुष्योंको शांत करनेके लिये जलके समान है, तथा जिनवाणी जैन योगियों करके सदा ही वन्दनीक है।

अब तत्त्वार्थ कौन कौन हैं, उनके नाम कहते हैं—

जीवा पोग्गलकाया, धम्माधम्मा य काल आयास।
तच्चत्था इदि भणिदा, णाणा गुणपज्जएहिं संजुत्ता ॥ ९ ॥

सामान्य अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, काल और आकाश ऐसे छह द्रव्य तत्त्वार्थ कहे गये हैं। कैसे हैं यह। नाना गुण और पर्यायों करके सहित हैं।

विशेषार्थ—स्पर्शन रसन घ्राण चक्षु श्रोत्र मनबल वचनबल कायबल आयु तथा श्वासोच्छ्वास ऐसे दश प्राणोंसे सम्बन्ध करके जो जीता है जीवेगा तथा जीता आया है वही जीव है। निश्चयकरके भावप्राण अर्थात् चेत व प्राणके धारण करनेसे जीव है, व्यवहारकरके द्रव्यप्राणोंके धारनेसे जीव है। शुद्ध सद्भूत व्यवहार नयकरके केवलज्ञान आदि शुद्ध गुणोंका आधारभूत होनेसे कार्य शुद्ध जीव है। अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनयके मतिज्ञान आदि विभाव गुणोंका आधारभूत होनेसे कारण शुद्ध जीव है।

यह चेतन है, इसके चैतन्यमय गुण हैं, वह अमूर्तीक है, इसके गुण भी अमूर्तीक हैं, जो जीव शुद्ध है उसके शुद्ध गुण हैं, जो जीव अशुद्ध है उसके अशुद्ध गुण हैं, ऐसे ही इसकी पर्याय भी हैं। गलने और पूरनेके स्वभावसे इसको पुद्गल है इत्यादि बहुत प्रकार है, मूर्तीक है इसके मूर्तीक ही गुण हैं, यह स्पर्श रस, गंध, वर्णमय है यह अचेतन है, इसके गुण भी अचेतन हैं। अपनी इन्द्रियगम्य जितने पदार्थ हैं, सब पुद्गल हैं।

स्वभाव अथवा विभावसे गमन क्रियामें परिणमन करनेवाले जीव और पुद्गलोंको स्वभाव अथवा विभावमें गमन करानेका उदासीन कारण धर्म द्रव्य है। स्वभाव अथवा विभावसे स्थिति क्रियामें परिणमन करनेवाले जीव पुद्गलोंको उदासीनरूपसे स्थिति करानेका हेतु अधर्म द्रव्य है। अन्य पांचों द्रव्योंको अवकाश इनके लक्षणको धरनेवाला आकाश द्रव्य है। अन्य पांचों द्रव्योंको वर्तना करानेका हेतु काल द्रव्य है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये चार द्रव्य अमूर्तीक हैं। इनके शुद्ध ही गुण तथा शुद्ध ही पर्याय हैं। यहां टीकाकार कहते हैं कि यह षट् द्रव्य रूपी रत्न, ज्योतिके समूहसे प्रकाशमान भी जिनेन्द्रके मतरूपी समुद्रके मध्य स्थित हैं। और वहींसे प्रगट हुए हैं। जो कोई निर्मल बुद्धि अपनी शोभाके लिये इन रत्नोंको हृदयके भीतर धारण करता है वह मुक्तिरूपी श्रेष्ठ लक्ष्मीका भोक्ता पति होता है।

आगे जीवके उपयोगका लक्षण कहते हैं—

जीवो उवओगमओ, उवओगो णाणदंसणो होई

दो प्रकार है। ज्ञानोपयोग दो प्रकारका है, एक स्वभाव ज्ञान, दूसरा विभाव ज्ञान।

विशेषार्थ—आत्माके चैतन्य गुणके साथ वर्तनेवाला जो परिणाम सो उपयोग है। यह धर्म है। आत्मा उसका धर्मी है। दीप और प्रकाशके समान इन दोनोंका सम्बन्ध है। यह उपयोग दो प्रकार है—

एक ज्ञानोपयोग दूसरा दर्शनोपयोग। ज्ञानोपयोग स्वभाव ज्ञान और विभाव ज्ञान ऐसे दो भेद रूप है सो आत्माका निज ज्ञान है। यह ज्ञानोपयोग स्वभाव अपेक्षा भी दो प्रकार है—एक कार्य्य स्वभाव ज्ञान, दूसरा कारण स्वभाव ज्ञान है।

इसी केवलज्ञानका कारणरूप परम पारिणामिक स्वभावमें स्थित तीन काल सम्बन्धी सर्व उपाधि अर्थात् विभावरहित ऐसा जो आत्माका सहज ज्ञान अर्थात् स्वरूपरूप ज्ञान सो कारण स्वभाव ज्ञान है। कारण स्वभाव ज्ञानके द्वारा ही कार्य्य स्वभाव ज्ञान प्राप्त होता है। विभाव ज्ञान तीन प्रकार है-कुमति कुश्रुत और विभंग अवधि। यहां टीकाकार कहते हैं कि जो कोई जिने द्रकथित सम्पूर्ण ज्ञानके भेदोंको जानकर परभावोंको त्यागता है और अपने आत्मीक स्वरूपमें स्थिर होता है तथा चैतन्यके चमत्कारमात्र स्वभावमें प्रवेश करता है वही जीव मुक्तिरूपी स्त्रीका पति होता है।

आगे इसी ज्ञानोपयोगके भेदोंको आगेकी दो गाथाओंमें कहते हैं —

केवलमिंदियरहियं, असहाय त सहावणाण त्ति ।
सण्णाणिदरवियप्पे, विहावणाण हवे दुविहं ॥ ११ ॥
सण्णाण चउभेय, मदिसुदओही तहेव मणपज्जं ।
अण्णाण तिवियप्प, मदियाई भेददो चेव ॥ १२ ॥

सामान्यार्थ—अतीन्द्रिय असहाय जो केवलज्ञान है सो स्वभाव ज्ञान है। संज्ञान और विभाव ज्ञान ऐसे दो भेद और हैं। सज्ञानके चार भेद हैं–मति, श्रुत, अवधि तथा मन:पर्ययज्ञान। विभाव ज्ञान अर्थात् अज्ञानके तीन भेद हैं–कुमति, कुश्रुत और कुअवधि।

विशेष अर्थ—केवलज्ञानका स्वरूप उपाधिरहित है, निरावरण है—किसी कर्मका आवरण नहीं है क्रमवर्ती ज्ञानसे रहित है, समस्त पदार्थोंमें एक ही समय जो ज्ञान व्यापक है तथा असहाय है। केवलज्ञान, बिना किसी इन्द्री और मनके सहायके स्वयं ही प्रत्यक्षरूपसे पदार्थोंको जानता है। इसीका नाम कार्य स्वभाव ज्ञान है। इसका कारण ज्ञान भी ऐसा ही होता है। क्योंकि वह कारणरूप शुद्ध ज्ञान अपने परमात्म स्वभावमें स्थित हो सहज दर्शन, सहज चारित्र, सहज सुख और सहज परम चैतन्य शक्ति ऐसे चार जो निज कारण समयसार उनको एक ही समयमें अनुभव करनेको समर्थ है, इसलिये केवलज्ञान सदा ही आनन्दका दाता है। ऐसे शुद्ध ज्ञानका स्वरूप कहा। अब शुद्धाशुद्ध ज्ञानके स्वरूप भेद कहते हैं। अनेक विकल्पोंका धारक मति ज्ञान है।

जो मतिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमरूप लब्धिरूप अर्थात् शक्ति और उपयोग रूप है, तथा अवग्रह ईहा अवाय धारणा इन चार भेदरूप है, तथा बहु बहुविधादि भेदसे अनेक प्रकार है। मतिज्ञान दर्शनपूर्वक होता है। दर्शन आत्माका वह उपयोग है जो पदार्थके ग्रहण करनेसे पूर्व हो। पदार्थका सामान्य निराकार ग्रहण दर्शन है। उसीके आकारका इतना ग्रहण करना जिससे अधिक ज्ञान किया जा सके सो अर्थावग्रह है। यदि अधिक ज्ञान होने योग्य ग्रहण नहीं होता तो उस ग्रहणको व्यञ्जनावग्रह कहते हैं। इसमें ईहा, अवाय, धारणा नहीं हो सकती। अर्थावग्रह द्वारा ग्रहीत पदार्थका विशे- [illegible]

उपयोग है सो ईहा है। निश्चय हो जाना सो अवाय है तथा उसीको कालान्तरमें नहीं भूलना सो धारणा है। ये मतिज्ञानके मुख्य चार भेद हैं—बहु, बहुविधादि बारह भेदोंको इन ४ भेद और पांच इंद्री और एक मन ऐसे ६ से गुणा करनेसे २८८ भेद अर्थावग्रहके होते हैं तथा व्यंजनावग्रहमें १२ भेदोंको चक्षु और मन बिना ४ इन्द्रियोंसे गुणनेसे ४८ भेद होते हैं। इसप्रकार मतिज्ञानके सर्व ३३६ भेद होते हैं। इनका विशेष भाव सर्वार्थसिद्धि टीकासे जानना। श्रुत ज्ञान लब्धि और भावनाके भेदसे दो प्रकारका है। श्रुत ज्ञानावरणी कर्मका क्षयोपशम सो लब्धि और उसके होते उपयोगका जोड़ना सो भावना है। अवधि ज्ञान तीन प्रकार है—देशावधि, सर्वावधि और परमावधि।

मनःपर्ययज्ञानके दो भेद हैं, ऋजुमति और विपुलमति। परम आत्मीक भावमें तिष्ठनेवाले सम्यग्दृष्टी जीवके यह चार सज्ञान अर्थात् सम्यग्ज्ञान होते हैं। मिथ्यादर्शनके होते हुए मति, श्रुत, अवधि इन तीन ज्ञानोंको कुमति, कुश्रुत और विभंगाज्ञान कहते हैं।

यहां जो स्वरूपका सहजज्ञान है सो शुद्ध अंतरंग तत्वरूप जो परम तत्व उसमें व्यापक अर्थात फैला हुआ होनेसे स्वरूप प्रत्यक्ष है। केवलज्ञान सम्पूर्णपने प्रत्यक्ष है। आत्मा बिना किसीकी सहायताके स्वय जो जानता है सो प्रत्यक्ष है। अवधिज्ञान रूपी मूर्तीक पदार्थोंको जानता है, तथा यह एकदेश प्रत्यक्ष है। मन पर्ययज्ञान अवधि ज्ञानसे जाने हुए पदार्थके अनंतभागरूप वस्तुके अंशको ग्रहण करनेवाला और एकदेश प्रत्यक्ष है।

मति श्रुत ज्ञान दोनों ही निश्चयसे परोक्ष हैं, परन्तु व्यवहारमें प्रत्यक्ष हैं। प्रयोजन यह है कि इन कहे हुए ज्ञानके भेदोंमें साक्षात् मोक्षका मूल एक निज परम तत्वमें तल्लीन सहज ज्ञान

ही है। यही स्वाभाविक ज्ञान भव्यजीवका परम स्वभाव होनेसे स्वभावरूप पारिणामिक ज्ञान भी है-अपने ज्ञानानन्द स्वरूपका जो स्वाभाविक अर्थात् सहजज्ञान है उसके सिवाय और कोई ज्ञान उपादेय नहीं है।

यह सहजज्ञान चैतन्यका विलासरूप है। सदा स्वाभाविक परम वीतराग सुखामृतमय है, बाधा और आवरणरहित परम चैतन्यका विलासरूप है, सदा शक्ति रूप है, सदा अंतर्मुख अपने स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप स्वाभाविक परम चारित्रमय है, तीन कालमें नहीं टूटनेवाला है, सदा निकटवर्ती परम चैतन्यरूपका श्रद्धानस्वरूप है स्वभावसे अनंत दर्शन ज्ञान सुख वीर्य ऐसे ४ चतुष्टयका स्वामी है, इस आत्माके सहज ज्ञानके द्वारा ऐसे आत्माको भावना करनी योग्य है। कैसा है आत्मा, जिसका और कोई नाथ नहीं है, तथा जो मुक्तिरूप सुन्दरीका पति है। इस संसाररूपी लताके मूलको काटनेवाले संक्षेप कथनसे यह अध्यात्म उपदेश किया गया।

भावार्थ—श्रीगुरुने ज्ञानके भेद कहकर यह प्रतिपादन किया है कि इस भव्यजीवको अपने आत्माका निश्चय परमात्मस्वरूप अपने उपयोगमें जमाकर ध्यान करना चाहिये। स्वरूप ज्ञानको ही आत्मज्ञान कहते हैं। यही निराकुल आनन्दका साक्षात् देनेवाला है। जब यह आत्मा पुण्य पाप सुख दुःख परिग्रह आदि भावोंसे दूरवर्ती निजभावका मनन करता है तब इस भेदज्ञानका सुन्दर फल आत्मको सामायिक आनंदरूप परम पवित्र ज्ञान स्वाभाविक प्रगट कर दिखाता है।

मैं सर्वथा प्रकार शुद्ध चैतन्यमय हूं, यह जानकर निर्विकल्प होता हूं। यही दशा मेरे सहज ज्ञानका साम्राज्य है और मैं इसका धनी स्वामी हूं। यही भावना इस जीवके शुभ शुद्ध

स्वभावको प्रगट करती जाती है। इस कारण सर्व काय त्याग इस स्वरूपभावनारूपी रमणीक वनमें रमनेका उपाय करना योग्य है।

यहां टीकाकार कहते हैं कि जो भव्य जीव ऊपर लिखित भेदज्ञानको प्राप्तकरके भयानक संसारका मूल समस्त पुण्य पाप सुख दुःखको अतिशयकरके त्यागता है सो भव्यजीव सब सुखोंमें श्रेष्ठ ऐसे अविनाशी आनन्दको प्राप्त करता है। जो बुद्धिमान प्राणी है, सो परिग्रहके आग्रह अर्थात् हठको त्यागकरके तथा देहमें उपेक्षा अर्थात् देह नेह छोड़कर निराकुल चैतन्यमात्र शरीरहीकी भावना करता है। शुभ तथा अशुभ समस्त रागके दूर होनेसे मोहका विध्वंस होता है। मोहके जड़ मूलसे चले जानेसे तथा द्वेषरूपी जलसे भरे मनरूपी घटके फूट जानेसे पवित्र और श्रेष्ठ ज्ञानरूपी ज्योति सर्व उपाधिरहित और नित्य उदयरूप प्रगट होती है। कैसी है ज्ञानज्योति, जो भेदज्ञानरूप वृक्षका उत्तम फल है—जगतमें मंगलरूप इस ज्ञानज्योतिको मैं वन्दना करता हूं।

यह आत्माका स्वाभाविक सहज ज्ञान जो आज इसके विस्तारसे पूर्ण है जो मोक्ष अवस्थामें प्रगट रहता है, ऐसे सहज ज्ञानकी सदा जय हो। कैसा है यह सहज ज्ञान, जो सर्व बाधाओंसे रहित है, प्रगट आत्माकी सहज अवस्था है, आत्माके अंतरंगमें मग्न है, अपने स्वाभाविक विलासरूप चैतन्यके चमत्कार मात्र स्वरूपमें लीन है। तथा जिसने अपनी आत्मज्योतिसे अज्ञान अंधकारको दूर कर दिया है। तथा अपने चारित्रकरके नित्य ही अभिराम अर्थात् सुन्दर है। मेरा आत्मा स्वाभाविक सहज ज्ञानका राज्य है सर्व प्रकार शुद्ध चैतन्यरूप है, ऐसा जानकर मैं विकल्प रहित होता हूं।

अब दर्शनोपयोगके भेदोंका प्रतिपादन करते हैं—

तह दंसणउवओगो, ससहावेदरवियप्पदो दुविहो।
केवलमिंदियरहियं, असहायं तं सहावमिदि भणिदं ॥ १२ ॥

सामान्य अर्थ—वैसे ही दर्शनोपयोग दो प्रकारका है—एक स्वभाव दर्शनोपयोग, दूसरा विभाव दर्शनोपयोग। जो केवल ज्ञान इन्द्रियोंके व्यापार रहित असहाय है वह स्वभाव दर्शनोपयोग है।

विशेषार्थ—इस गाथामें दर्शनोपयोगका स्वरूप कथन है। जैसे ज्ञानोपयोग अनेक विकल्पोंमें बना है वैसे ही दर्शनोपयोग भी है। स्वभाव और विभाव इस तरह दो भेदरूप है। स्वभाव दर्शनोपयोग भी दो प्रकारका है-एक कारण स्वभाव, दूसरा कार्य स्वभाव। अब कारण स्वभावको कहते हैं—कारण स्वभाव दृष्टि अपने स्वरूपकी श्रद्धा मात्र ही है, निजरूप है, सदा पवित्ररूप है, औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायक ऐसे चार विभाव स्वभावरूप भावोंसे अगोचर है सहज परम पारिणामिक भाव स्वभावरूप है, कारण समयसार अर्थात् कारण शुद्धात्मस्वरूप है आवरणरहित स्वभाव है निज स्वभावकी सत्तामात्र भाव है परम चैतन्य स्वरूप है, अकृत्रिम परम स्वरूपमें निश्चल स्थितिमय शुद्ध चारित्ररूप है, नित्य शुद्ध कर्मांजनरहित ज्ञानरूप है तथा आत्माके वैरी रागद्वेषादि सेनाको क्षणमें विध्वंस करता है। ऐसे आत्मस्वरूपका निश्चय करके स्वरूप श्रद्धान मात्र ही कारण स्वभाव दर्शन है।

दूसरी कार्य स्वभाव दृष्टि है जो दर्शनावरणीय, ज्ञानावरणीय आदि घातिया कर्मोंके नाश होनेसे उत्पन्न हो जाती है। यह दृष्टि भी श्री तीर्थंकर परमदेवके केवलज्ञानके समान एक ही समयमें लोक और अलोकको सामान्य अवलोकन करनेवाली है।

ऐसे हैं श्री तीर्थंकर परमदेव, जो घातिया कर्मोंके क्षय होनेसे क्षायकलब्धिधारी हैं, सम्पूर्ण रूपसे निर्मल केवलज्ञानके द्वारा लोकालोकके ज्ञाता हैं, अपने आत्मस्वरूपसे उत्पन्न परम वीतरागरूप जो सुख अमृत उसके समुद्र हैं, यथाख्यात नामके कार्यरूप शुद्ध चारित्रके धारी हैं इत्यादिरूप परन्तु अनन्त ऐसा अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावको प्रगटतासे शुद्ध सद्भूतव्यवहारनयात्मक हैं, अर्थात् शुद्ध सद्भूतव्यवहारनयसे अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावकी प्रगटता हुई ऐसा कहनेमें आता है, [illegible] सकल जीवोंके द्वारा प्रत्यक्ष न देखने योग्य हैं। इस तरह कारण और कार्यरूप दर्शनोपयोगका स्वरूप कहा।

भावार्थ—शुद्ध परमात्म तत्वकी सामान्य निर्विकल्प सत्ता ही आत्माके स्वाभाविक गुण केवल दर्शनकी व्यक्तताका साधन है, इसलिये कारण स्वभाव दृष्टिको सदा उपादेय जान प्रीति करना योग्य है। यहां टीकाकार कहते हैं कि सम्यग्दर्शन ज्ञानचारित्ररूप ही एक चैतन्य सामान्य अपना आत्मीक तत्व है। यह तत्व अतिशयसे मुक्तिकी इच्छा करनेवालोंके लिए दर्पणके समान है। इस मार्गके धारेबिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

आगे विभाव दर्शनोपयोगको कहते हैं—

चक्खु अचक्खु ओही, तिण्णिवि भणिद विभावदिच्छत्ति।
पज्जाओ दुवियप्पो, सपरावेक्खो य णिरवेक्खो ॥ १४ ॥

सामान्य अर्थ—चक्षु, अचक्षु और अवधि ये तीन ही विभाव दर्शन कहे गये हैं। पर्याय दो प्रकारकी होती है—एक स्वपरापेक्ष और दूसरी निरपेक्ष।

विशेष अर्थ—इस गाथामें अशुद्ध दर्शन और शुद्ध अशुद्ध पर्यायकी सूचना है। जैसे मतिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे मतिज्ञान मूर्तीक पदार्थको जानता है। वैसे चक्षुदर्शनावरणी कर्मके

क्षयोपशमसे चक्षुदर्शन मूर्तीक पदार्थोंको देखता है। जैसे श्रुतज्ञान श्रुतज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे श्रुतद्वारा द्रव्यश्रुत अर्थात् द्वादशांगरूप जिनवचनमें कहे हुए मूर्तीक और अमूर्तीक समस्त वस्तुओंको परोक्षरूपसे जानता है ऐसे ही अचक्षुदर्शना-वरणी कर्मके क्षयोपशमसे अचक्षुदर्शन स्पर्शन रसना, घ्राण और श्रोत्रके द्वारा अपने अपने ही प्रत्यक्ष विषयको सामान्य रूपसे देखता है, अर्थात् मालूम करता है।

जैसे अवधिज्ञान अवधिज्ञानावरणी कर्मके क्षयोपशमसे प्रत्यक्ष मूर्तीक पदार्थोंको जानता है वैसे ही अवधिदर्शन अवधि दर्शना-वरणी कर्मके क्षयोपशमसे मूर्तीक पदार्थोंको देखता है। इसप्रकार उपयोगका व्याख्यान किया। अब पर्यायका स्वरूप कहते हैं। "परि समन्तात् भेदम् एति गच्छति इति पर्याय" का अर्थ सरफसे भेदको प्राप्त हो अर्थात् जो परिणमन करे सो पर्याय है।

प्रथम स्वभाव पर्याय है, यह छहों द्रव्योंमें साधारण है, अर्थपर्यायरूप है, वचन और मनके अगोचर है, अत्यंत सूक्ष्म है। आगम प्रमाणसे अनुभव करने योग्य है, तथा छ प्रकारकी वृद्धि और छ प्रकारकी हानिकर सहित है। अनंत भागवृद्धि, असंख्यात भाग वृद्धि, संख्यात भागवृद्धि, संख्यात गुणवृद्धि, असंख्यात गुणवृद्धि, अनंत गुणवृद्धि, इसी तरहसे छ भेदरूप हानि है। यह वृद्धि हानि अगुरुलघु गुणमें होती है। इसका दृष्टांत ऐसा है कि जैसे समुद्रमें जल उतना ही है उसमें जो लहरें उठती हैं फिर बैठ जाती हैं उनसे समुद्रके जलमें हानि नहीं होती।

जैसे निर्मल शुद्धात्माको प्रभामें चमककी चंचलता है, कभी हीन कभी तीव्र है उसी प्रकार इस आगमोक्त वृद्धि और हानिको समझना

दूसरी अशुद्ध पर्याय है जो नर नारक तिर्यंच और देवरूप है। इसको व्यञ्जनपर्याय भी कहते हैं। यहां टीकाकार कहते हैं कि जो मनुष्य उत्कृष्ट भावके होनेपर निर्मलबुद्धि होता हुआ स्वाभाविक गुणरत्नोंकी खान पूर्ण ज्ञानमय एक अपने शुद्ध आत्माका भजन करता है, वह शुद्ध सम्यग्दृष्टी जीव मोक्षरूपी स्त्रीका वर होता है। इसप्रकार उत्कृष्ट गुण और पर्यायके होनेपर उत्तम पुरुषोंके हृदयरूपी सरोवरमें जो कारणरूप आत्मा शोभायमान होता है। हे भव्यरूपी सिंह! तू उसी परमब्रह्मरूप समयसार आत्माको भजन कर, जो अपने ही स्वभावमें वर्द्धमान है।

यह आत्मा कहीं अपने आत्मगुणोंसे शोभता है, कहीं अशुद्ध गुणोंसे विराजता है कहीं अपनी स्वाभाविक पर्यायोंसे, तथा कहीं अशुद्ध पर्यायोंसे शोभता है। ऐसा होनेपर भी यह जीव-तत्व समस्त विभाव गुण पर्यायोंसे रहित है, मैं सदा ही अपने सर्व प्रयोजनोंकी सिद्धिके लिये उसी तत्वको नमन करता हू और उस ही बार बार भावना करता हू।

आगे स्वभाव विभाव पर्यायका विस्तार कहते हैं —

णरणारयतिरियसुरा, पज्जाया ते विभावमिदि भणिदा।
कम्मोपाधिविवज्जिय, पज्जाया ते सहावमिदि भणिदा ॥ १५ ॥

सामान्य अर्थ—नर, नारक, पशु और देव ये चार मुख्य विभाव पर्याय कही गई हैं। जो पर्याय कर्मोंकी उपाधिसे रहित हैं वे स्वभाव पर्याय हैं।

विशेष अर्थ—इस गाथामें स्वभाव और विभाव पर्यायका संक्षेप कथन है। स्वभाव पर्यायोंके मध्यमें स्वभाव पर्याय दो भेदरूप कथन की जाती है। पहली कारण शुद्ध पर्याय दूसरी कार्य शुद्ध पर्याय। इस लोकमें शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे आदि और अंत दोनोंसे रहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावसे शुद्ध

परिणामकरके तिर्यंचकी कायमें जाता है, व्यवहार नयकरके एकेंद्रियादिके आकार होय तिर्यंच पर्याय भोगता है। यही जीव अपने केवल शुभ परिणामोंके द्वारा बांधे हुए कर्मोंके निमित्तसे व्यवहार नयसे देवका आकार और शरीर ग्रहण कर देवपर्यायको भोगता है। (अशुभ परिणामसे बांधे हुए कर्मोंसे व्यवहार नयकरके नरकपर्यायको भोगता है)।

यह चारों गतिरूप जीवके शरीरोंकी बनावट जो-विभाव व्यञ्जन पर्याय है। इन पर्यायोंका विशेष स्वरूप अन्य आगमसे जानना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि जीवके विभाव होनेपर भी जो कोई सम्यग्दृष्टि तत्त्वाभ्यासमें अपनी बुद्धिको जमाकरके ऐसा मानता है कि शुद्ध आत्माके स्वभाव सिवाय कोई मेरा कल्याणकारी नहीं है वह जीव मुक्तिरूपी लक्ष्मीका पति होता है।

भावार्थ—अपनी इन पर्यायोंको कर्मकृत मान इनको त्याज्य समझ इनसे उदासीन बुद्धि करके निज स्वभावमें रमनेकी उत्कंठा करनी योग्य है। अब चार गतिका विशेष स्वरूप कहते हैं—

माणुस्सा दुवियप्पा, कम्ममहीभोगभूमिसंजादा।
सत्तविहा णेरइया, णादव्वा पुढविभेएण॥ १६॥
चउदहभेदा भणिदा, तेरिच्छा सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसिं वित्थारं, लोयविभागेसु णादव्वं॥ १७॥

सामान्य अर्थ—मनुष्य दो प्रकारके होते हैं—कर्मभूमिज और भोगभूमिज। नारकी ७ प्रकारके जानने। पृथ्वी आदि भेद करके १४ प्रकार तिर्यंच हैं तथा चार प्रकारके देव होते हैं। इनका विस्तार 'लोक विभाग' नाम आगमसे जानना योग्य है।

विशेष अर्थ-इन गाथाओंमें ४ गतिका निरूपण है। मनु अर्थात् कुलकर उनके अपत्य अर्थात् सन्तानोंको मनुष्य कहते हैं

कर्मभूमिकी आदि और भोगभूमिके अन्तमें १४ कुलकर तथा ऋषभदेव और श्रीभरत चक्रवर्तीको ले १६ कुलकर हुए हैं। इन्होंने ही मनुष्योंको आजीविकाके साधन व अन्य आवश्यक कर्म बताये।

यह कुलकर विद्यमान रहते होते हैं। इसीकारण उनके द्वारा शासित पालित होनेवाले सब मनुष्य कहलाये। अब यह प्रकरण सविस्तर इसतमें आता है। मनुष्य दो प्रकारके हैं—एक कर्मभूमिज दूसरे भोगभूमिज। कर्मभूमिज मनुष्य भी दो प्रकारके हैं—आर्य और म्लेच्छ। जो पुण्यक्षेत्र निवासी हैं वे आर्य हैं और जो पापक्षेत्रवर्ती हैं वे म्लेच्छ हैं।

भोगभूमिजोंको भी आर्य कहते हैं। ये जघन्य मध्यम और उत्तम क्षेत्रमें निवास करनेसे तीन भेदरूप हैं तथा रत्न शर्करा, बालुका, पंक, धूम, तम और महातम ऐसी सात प्रकारकी प्रभाओंको धारण करनेवाली सात पृथिवियाँ हैं, जिनके निवासी नारकी जीव सात प्रकारके होते हैं। पहले नरकके नारकी एक सागरोपम आयुधारी, दूसरेके तीन सागरोपम, तीसरेके सात। चौथेके दश, पांचवेंके सत्रह, छट्ठेके बाईस और सातवेंके तेतीस सागरोपम आयुधारी हैं।

यहां विस्तारके भयसे संक्षेप कहा है। तिर्यंचोंमें १४ भेद हैं—१ सूक्ष्म एकेंद्रिय पर्याप्त, २ सूक्ष्म एकेंद्रिय अपर्याप्त, ३ बादर एकेंद्रिय पर्याप्त, ४ बादर एकेंद्रिय अपर्याप्त, ५ द्वींद्रिय पर्याप्त, ६ द्वींद्रिय अपर्याप्त, ७ तेंद्रिय पर्याप्त, ८ तेंद्रिय अपर्याप्त, ९ चौंद्रिय पर्याप्त, १० चौंद्रिय अपर्याप्त, ११ पंचेंद्री असंज्ञी पर्याप्त, १२ पंचेंद्री असंज्ञी अपर्याप्त, १३ संज्ञी पंचेंद्री पर्याप्त, १४ संज्ञी पंचेंद्री अपर्याप्त।

भवनवासी व्यंतर, ज्योतिषी, कल्पवासी यह देवोंमें चार जातिके समूह हैं। इन चारों गति सम्बन्धी जीवोंका वर्णन

लोकविभाग नामके परमागमसे जानना योग्य है। यहां आगमस्वरूपका कथन है अतः लोकका विशेष कथन सूत्रकार पूज्याचार्यने यहां नहीं किया है।

यहां टीकाकार प्रार्थना करते हैं कि हे जिनेन्द्र! स्वर्गमें हो, इस मनुष्यभवमें व विद्याधरोंके लोकमें हो, व देवलोक, ज्योतिर्लोक व भवनवासीके भवनमें, व नारकियोंके निवासमें हो, व जिन २ भवनमें हो व अन्य किसी स्थानमें हो हमें कर्मोंकी उत्पत्ति न हो, परन्तु पुन: पुन: आपके चरण कमलोंकी भक्ति ही हमको प्राप्त होवे।

हे जीव! तू राजा महाराजाओंकी विभूतिको सुनकर व देखकर क्यों खेद करता है? हे जड़बुद्धि! सब पुण्यसे पैदा होती हैं। यदि श्रीजिनेन्द्रके चरणकमलोंमें तेरी भक्ति है और उन चरणोंकी पूजामें रुचि है, तो यह नानाप्रकारके भोग आपसे आप हो जाँयगे।

आगे कर्ता भोक्तापनेको कहते हैं—

कत्ता भोत्ता आदा, पोग्गलकम्मस्स होदि ववहारो।
कम्मजभावेणादा, कत्ता भोत्ता दु णिच्छयदो ॥ १८ ॥

सामान्य अर्थ—यह आत्मा पुद्गल कर्मका कर्ता और भोक्ता होता है सो व्यवहार नयसे है। कर्मसे उत्पन्न हुए जो भाव तिनका कर्ता और भोक्ता है सो अशुद्ध निश्चयनयसे है।

विशेषार्थ—इस गाथामें कर्ता और भोक्तापनेका कथन है। निकटवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे यह आत्मा द्रव्य कर्म जो ज्ञानावरणादि तिनका कर्ता है और तिनके फल जो सुख और दुःख तिनका भोक्ता है। तथा यही आत्मा अशुद्ध निश्चयनय करके सम्पूर्ण मोह राग द्वेष आदि भाव कर्मोंका कर्ता और भोक्ता है।

अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनयसे नोकर्म जो औदारिक शरीरादि तिनका कर्ता है, तथा उपचरित असद्भूत व्यवहार नयसे यह आत्मा घट पट रथ गाड़ी आदि पदार्थोंका कर्ता है। इस प्रकार अशुद्ध जीवका स्वरूप कहा।

भावार्थ—आचार्य यह बतलाते हैं कि कोई एक अनादि शुद्धबुद्ध ईश्वर कर्ता नहीं है किन्तु यह संसारी अशुद्ध आत्मा ही नाना प्रकारकी अवस्थाओंका बनानेवाला और अपने ही कर्मके अनुसार सुख दुःख फलोंको भोगनेवाला है। शुद्ध निश्चयनय जो वस्तुके यथार्थ शुद्ध स्वभावको बतलानेवाला है उसकी अपेक्षा यह आत्मा निज शुद्ध पारिणामिक भावका ही कर्ता और भोक्ता है। परन्तु अशुद्ध निश्चयनय जो वस्तुके अशुद्ध भावको बतलाने वाला है उसकी अपेक्षासे यह आत्मा पूर्व बांधे कर्मोंके परिपाकके निमित्तसे पैदा होनेवाले जो राग द्वेषादि औपाधिक भाव तिनका कर्ता और भोक्ता है। आत्मा न निकट अर्थात् एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्धको बतलानेवाला तथा जो अनुपचरित अर्थात् जिसको मात्र कल्पना ही नहीं किया है किन्तु जो वास्तवमें सम्बन्ध है तथा जो असद्भूत अर्थात् आत्माकी सत्तामें नहीं है ऐसा जो व्यवहारनय उसके द्वारा देखा जाय तो यही आत्मा द्रव्य कर्मोंका कर्ता और तिनके बाह्य प्रगट होनेवाले सुखदुःखका भोक्ता है। तथा दूरवर्ती अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकरके यह आत्मा स्थूल शरीरका कर्ता है। तथा कल्पना मात्र ऐसे उपचरित और असद्भूत व्यवहारनयसे यह आत्मा पर पदार्थ जिनका कर्नेसे अर्थात् अपने प्रदेशोंसे बिलकुल सम्बन्ध नहीं है ऐसे घट पटादिका कर्ता है।

यहां टीकाकारने आत्मानुभव करके कहा है कि जो आत्मा रागद्वेष मोहमें लिप्त हो रहा है, यदि परम गुरुके चरणकमलकी सेवा करे तो उसके प्रभावसे स्वाभाविक शुद्धात्मस्वरूपको भी शिवस्व

अर्थात् भेदरहित है उसको पहचान करके मोक्षरूप लोका पर हो जाता है। क्योंकि भावकर्म जो रागादि इनको रोकनेसे द्रव्यकर्म रुकते हैं और द्रव्यकर्मोंके संवरसे संसारका निरोध है।

यह मूढ़ जीव सम्यग्ज्ञानरूपी भावसे छूटा हुआ शुभ तथा अशुभ अनेक प्रकारके कर्मोंको करता है। यदि यह जीव कर्मरहित मोक्षमार्गको थोड़ी भी इच्छा करके उसको जाने तो इस लोकमें उसकी रक्षाका उपाय दूसरा नहीं है। जो जीव कर्मजनित सम्पूर्ण आपदारूप सुखको त्यागता है वह सम्यग्दृष्टि भव्य आत्मा कर्मरहित निराकुल आनन्द समूहरूप अमृतके समुद्रमें डूबेहुए अत्यन्त ही शुद्ध चैतन्यमय एकरूप अद्वितीय अपने आत्मीक भावको प्राप्त करता है।

मेरेमें वास्तवमें कोई विभाव नहीं है, इसलिये मुझे उसकी कोई चिन्ता नहीं है। मैं निरन्तर अपने हृदयकमलमें विराजमान सर्व धर्मोंसे रहित एक शुद्ध आत्माका ही अनुभव करता हूं, क्योंकि उसके बिना अन्य किसीभी प्रकारसे निश्चय करके इस जीवको मुक्तिकी प्राप्ति नहीं होसकती है। संसारी जीवमें सांसारिक विभावगुण होते हैं। परन्तु सिद्धजीवमें नित्य प्रगट ही सिद्ध किये हुए निज उत्कृष्ट गुण रहते हैं। यह कथन भी व्यवहारनयसे ही है। निश्चयनयसे न तो सिद्ध ही है, और न संसारी ही है। बुद्धिमानोंका ऐसा ही निर्णय है।

भावार्थ—यह आत्मा शुद्ध निश्चयसे जैसा इसका स्वभाव है वैसा ही है, उस आत्मामें विकल्प करना कि यह आत्मा संसारी है अथवा यह आत्मा सिद्ध है यह सब व्यवहारनयसे है।

आगे दोनों नयोंकी सफलताको कहते हैं —

दव्वत्थिएण जीवा, वदिरित्ता पुव्वभणिदपज्जाया।
पज्जयणयेण जीवा, संजुत्ता होंति दुविहेहिं ॥ १९ ॥

सामान्य अर्थ—द्रव्यार्थिकनयसे ये जीव पूर्व कही हुई पर्यायोंसे अलग हैं, परन्तु पर्यायनयसे ये जीव उनसे संयुक्त हैं। दोनों नयोंका यह अभिप्राय है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें दोनों नयोंकी सफलताको बतलाया है। ये दोनों ही नय भगवत् अर्हंत परमेश्वरने कहे हैं। द्रव्य ही अर्थ अर्थात् प्रयोजन जिसका है वह द्रव्यार्थिक नय है, पर्याय ही जिसका प्रयोजन है वह पर्यायार्थिक नय है। एक नयसे दिया हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य नहीं है किंतु दोनों नयोंके द्वारा कहा हुआ उपदेश ग्रहण करने योग्य है।

वस्तुकी सत्ता मात्रको ग्रहण करनेवाला ऐसा शुद्ध द्रव्यार्थिकनय है। इसके बलसे पूर्व कही हुई व्यञ्जनपर्यायोंसे युक्त और अयुक्त अर्थात् अघरूप समस्त जीवराशि सर्वथा भिन्न है, क्योंकि शुद्ध नयसे सर्व ही जीव शुद्ध हैं। यह वचन श्रीद्रव्यसंग्रहजीका है। विभावव्यंजन पर्यायार्थिकनयके बलसे सर्व जीव इन पर्यायोंसे संयुक्त हैं। सिद्ध जीवोंका परिणमन अर्थ पर्यायोंके द्वारा होता है, व्यञ्जनपर्यायोंके द्वारा नहीं होता क्योंकि श्रीसिद्ध महाराज सदा निरंजन हैं, अर्थात् कर्मरूपी अंजनोंसे रहित हैं।

प्रगटरूपसे आकारका बदलना सो व्यञ्जनपर्याय है, जैसे देवसे मनुष्य होना। प्रगटरूपसे एक पर्याय रहते हुये अंतरंग गुणोंमें परिणमन होना सो अर्थपर्याय है। जैसे श्रीसिद्ध महाराजका एक गुण अनन्त ज्ञान है। ज्ञेय (जानने योग्य) पदार्थोंको जाने सो ज्ञान। ज्ञेय पदार्थ समय समय उत्पत्ति विनाश और ध्रौव्य गुणसे संयुक्त हैं। ऐसा ही उन ज्ञानका भी परिणमन होता है। यहां कोई शंका करे अब सिद्ध सदा निरंजन हैं तो गाथामें यह कहना व्यर्थ होगा कि सर्व जीव द्रव्यार्थिक नयोंके द्वारा दोनों पर्यायोंकरके संयुक्त हैं इसका समाधि है — ऐसीज प्रकार है—

निगम नाम विकल्पका है। विकल्पमें होवे सो नैगम है। भूत नैगम, वर्तमान नैगम और भावि नैगम। गत अवस्थाका विकल्प पदार्थमें कहना सो भूत नैगम, वर्तमान अवस्थाका विकल्प सो वर्तमान नैगम, सम्पूर्ण कार्य न होते हुये कार्य होना कहना, भावी अवस्थाको पदार्थमें कहना सो भावी नैगम।

यहांपर भूत नैगमनयकी अपेक्षासे सिद्धोंके भी व्यञ्जनपर्यायकी सम्भवता है। सिद्ध अवस्था होनके पूर्व सब जीव संसारी अशुद्ध होते हैं। अधिक क्या कहें, सर्व ही जीव दोनों नयोंके द्वारा शुद्ध अशुद्ध हैं। ऐसा ही श्री "अमृतचन्द्र सूरिने" कहा है—जो जीव स्याद्‌पदसे चिह्नित और दोनों नय अर्थात् निश्चय व्यवहार नयके विरोधको दूर करनेवाले ऐसे जिनेन्द्रके वचनोंमें रमते हैं वे मोहको वमन कर देते हैं और शीघ्र ही आसन्नपसे परम ज्योतिरूप समयसार अर्थात् शुद्धात्मा तिसको देखते ही हैं।

कैसा है समयसार, जो नवीन नहीं है तथा किसी, खोटी नयकी पक्षसे खण्डन योग्य नहीं है। यहां टीकाकार कहते हैं— "जो सत्पुरुष दोनों नयोंकी युक्तियोंको नहीं उल्लंघन करते हुये, परम जिनेन्द्रके चरणकमलोंके मत्त भ्रमर हो जाते हैं, अर्थात् भौंरेके समान भगवत् भक्तिमें लीन हो जाते हैं, वे सब शीघ्र ही सदा नित्यरूप समयसारको प्राप्त करते हैं। सज्जनोंको इस जगतमें अन्य कथनसे क्या फलकी सिद्धि होगी ?

भावार्थ—दोनों नयोंसे जीवका स्वरूप समझकर हमको उचित है कि हम परमात्माकी भक्तिमें अपने उपयोगको लीन करें।

इस प्रकार सुकविरूप कमलोंके लिए सूर्यके समान, पंचेन्द्रियोंके फैलावसे रहित, शरीर मात्र परिग्रहके धारी 'श्रीपद्मप्रभमल धारीदेव' रचित नियमसारकी तात्पर्य वृत्तिमें 'जीवाधिकार' नामक प्रथमश्रुत स्कन्ध पूर्ण हुआ।



२–अजीवाधिकार

अणुखंधवियप्पेण दु, पोग्गलदव्वं हवेइ दुवियप्पं ।
खंधा हु छप्पयारा, परमाणू चेव दुवियप्पो ॥ २० ॥

सामान्यार्थ—पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं—एक अणु दूसरा स्कन्ध। स्कन्ध निश्चयकरके छ प्रकार है और परमाणु दो प्रकार है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें पुद्गल द्रव्यके भेदोंका कथन है। प्रथम ही पुद्गल द्रव्यके दो भेद हैं—एक स्वभावपुद्गल, दूसरा विभावपुद्गल। परमाणु स्वभाव पुद्गल है और स्कन्ध विभाव पुद्गल है। स्वभावपुद्गलके दो भेद हैं—एक कार्यपरमाणु दूसरा कारणपरमाणु। स्कन्ध छः प्रकारके होते हैं—पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियके विषयरूप पदार्थ जैसे शब्द सुगंध आदि कार्माण योग्य पुद्गल वर्गणा और कर्म अयोग्य पुद्गल ऐसे छ भेद हैं। इनका स्वरूप आगेकी गाथाओंमें विस्तारसे कहेंगे।

स्कन्धोंके गलनेसे अणु होता है और अणुओंके मिलनेसे स्कन्ध होता है। इस पुद्गल पदार्थके बिना लोकयात्रा नहीं हो सकती अर्थात् जीवको इस लोकमें भ्रमण और पर्यायोंसे निवास पुद्गलद्रव्यके द्वारा ही होता है।

आगे स्कन्धके भेदोंको कहते हैं—

अइथूलथूल थूलं, थूलंसुहुमं च सुहुमथूलं च ।
सुहुमं अइसुहुमं इदि, धरादियं होंति छब्भेयं ॥ २१ ॥
भूपव्वदमादीया, भणिदा अइथूलथूलमिदि खंधा ।
थूला इदि विण्णेया, सप्पीजलतेलमादीया ॥ २२ ॥

छायातवमादीया, थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य ॥ २३ ॥
सुहुमा हवंति खंधा, पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेंति ॥ २४ ॥

भावार्थ—इन ४ गाथाओंमें विभाव पुद्गलके स्वरूपका व्याख्यान है । अत्यंत स्थूल वे पुद्गल हैं जो पर्वत पृथ्वी आदिके समान हैं । घी तेल मठा दूध जल आदि बहनेवाले स्थूल जातिके पुद्गल हैं । छाया आतप, अन्धकार आदि स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं ।

स्पर्श रसन घ्राण और श्रोत्र इंद्रियके विषय भूत पदार्थ सूक्ष्मस्थूल जातिके पुद्गल हैं अर्थात् शब्द स्पर्श रस, गंध ये सूक्ष्मस्थूल हैं । शुभ और अशुभ आत्माके परिणामोंके द्वारा आनेवाले शुभ और अशुभ कर्मोंके योग्य होनेवाला कार्माण स्कंध सूक्ष्मपुद्गल हैं ।

इन सबसे विरुद्ध जो स्कंध कर्मवर्गणासे भी सूक्ष्म हैं वे अत्यंत सूक्ष्मस्कंध हैं । इस प्रकार विभाव पुद्गलके छ भेद हैं । ऐसा ही पंचास्तिकाय और मार्गप्रकाश ग्रन्थमें कहा है और उनके कथनका अभिप्राय ऊपर कहा जा चुका है ।

इसी प्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि ' इस महा भारी अनादि कालसे होनेवाले अज्ञानरूपी नृत्यके अखाड़ेमें वर्ण स्पर्श रस गंध गुणका धारी पुद्गल ही नृत्य कर रहा है । इसके सिवाय दूसरा कोई नृत्य करनेवाला नहीं है ।

यह जीव तो रागद्वेष आदि विकारोंसे विरुद्ध शुद्धचैतन्य धातुकी एक मूर्ति है ।

भावार्थ—पुद्गलकर्मके ही निमित्तसे जीव भ्रमता है । निश्चय

करके आत्मा शुद्ध निर्विकार है। गतिका पात्र तक होना इसका स्वभाव नहीं है इसी कारण आचार्यने नाट्य करनेवाला पुद्गलहीको कहा है। क्योंकि आचार्यकी इच्छा इस भवपिंजरेमें पड़े हुए जीवको अपने शुद्धस्वरूपके स्मरण करानेकी है।

जब तक यह आत्मा अपनी शुद्धताका निश्चय नहीं करता तबतक रागद्वेषको हटा नहीं सकता। रागद्वेषोंको बिना दूर किये कर्मबंधकी संततिका अभाव नहीं होता। इस कारण मुमुक्षुओंको आत्माको अपना शुद्धस्वरूप अनुभवना योग्य है। यही शिक्षा उपादेय है। टीकाकार कहते हैं—हे भव्यसिंह अर्थात् सिंहके समान भव्यात्मा! तू नानाप्रकारके पुद्गलोंका भेद जगत्में देखकर उनमें अपनी प्रीतिभावको न कर—तू अपनी रति अपनी लोकोत्तर उस अतुल चैतन्य चमत्कारमें कर, जिसके प्रभावसे तू मोक्षरूप लक्ष्मीका वर हो जावेगा।

भावार्थ—मोक्ष पानेका यही उपाय है जो अपनी चैतन्य सत्ता भूमिमें कल्लोल करे और पर वस्तुमें क्रीड़ा करनेका त्याग करे।

आगे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणुका हेतु कहते हैं—

धाउचउक्कस्स पुणो, जं हेऊ कारणंति तं णेयो।
खंधाण अवसाणं, णादव्वो कज्जपरमाणू ॥ २५ ॥

सामान्य अर्थ—चार धातुका जो हेतु है वह कारण परमाणु है तथा स्कंधोंका अंतिम भाग कार्य परमाणु है, ऐसा जानना योग्य है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें कारणपरमाणु द्रव्य और कार्यपरमाणु द्रव्यका स्वरूप वर्णित है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु हैं। इन चार धातुओंका जो कारण है वह कारण परमाणु है। अर्थात् जिन परमाणुओंके समागमसे ये चार

छायातवमादीया, थूलेदरखंधमिदि वियाणाहि ।
सुहुमथूलेदि भणिया, खंधा चउरक्खविसया य ॥ २३ ॥
सुहुमा हवंति खंधा, पाओग्गा कम्मवग्गणस्स पुणो ।
तव्विवरीया खंधा, अइसुहुमा इदि परूवेंदि ॥ २४ ॥

सामान्य अर्थ—इन ४ गाथाओंमें विभाव पुद्गलके स्वरूपका व्याख्यान है। अत्यंत स्थूल वे पुद्गल हैं जो पर्वत पृथ्वी आदिके समान हैं। घी तेल मठा दूध जल आदि बहनेवाले द्रव्य स्थूल जातिके पुद्गल हैं। छाया आतप, अंधकार आदि स्थूलसूक्ष्म पुद्गल हैं।

स्पर्श रसन घ्राण और श्रोत्रइंद्रियके विषय सूक्ष्म पदार्थ सूक्ष्म स्थूल जातिके पुद्गल हैं अर्थात् शब्द स्पर्श, रस, गंध ये सूक्ष्मस्थूल हैं। शुभ और अशुभ आत्माके परिणामोंके द्वारा आनेवाले शुभ और अशुभ कर्मोंके योग्य होनेवाला कार्माण स्कंध सूक्ष्मपुद्गल हैं।

इन सबसे विरुद्ध जो स्कंध कर्मवर्गणासे भी सूक्ष्म हैं वे अत्यंत सूक्ष्मस्कंध हैं। इस प्रकार विभाव पुद्गलके ६ भेद हैं। ऐसा ही पंचास्तिकाय और गोम्मटसारमें भी कहा है और उनके कथनका अभिप्राय ऊपर कहा जा चुका है।

इसी प्रकार श्री अमृतचन्द्रसूरिने कहा है कि 'इस महा भारी अनादि कालसे होनेवाले अज्ञानमयी नृत्यके अखाड़ेमें वर्ण स्पर्श रस गंध गुणका धारी पुद्गल ही नृत्य कर रहा है। इसके सिवाय दूसरा कोई नृत्य करनेवाला नहीं है।

यह जीव तो रागद्वेष आदि विकारोंसे विरुद्ध शुद्धचैतन्य धातुकी एक मूर्ति है।

भावार्थ—पुद्गलकर्मोंके ही निमित्तसे जीव भ्रमता है। निश्चय

करके आत्मा शुद्ध निर्विकार है। गतिसे गत्यन्तर होना इसका स्वभाव नहीं है इसी कारण आचार्यने नाट्य करनेवाला पुद्गलहीको कहा है। क्योंकि श्रीगुरुकी इच्छा इस भवविस्तरेमें फसे हुए जीवको अपने शुद्धस्वरूपके स्मरण करानेकी है।

जब तक यह आत्मा अपनी शुद्धताका निश्चय नहीं करता तबतक रागद्वेषको हटा नहीं सकता। रागद्वेषको बिना दूर किये कर्मबंधकी संततिका अभाव नहीं होता। इस कारण कल्याणार्थी आत्माको अपना शुद्धस्वरूप अनुभवना योग्य है। यही शिक्षा उपादेय है। टीकाकार कहते हैं—हे भव्यसिंह अर्थात् सिंहके समान भव्यात्मा! तू नानाप्रकारके पुद्गलोंका भेद जगत्में देखकर उनमें अपनी प्रीतिभावको न कर—तू अपनी रति अपनी लीनता इस अतुल चैतन्यके चमत्कारमें कर, जिसके प्रभावसे तू मोक्षरूप स्त्रीका वर हो जावेगा।

भावार्थ—मोक्ष पानेका यही उपाय है जो अपनी चैतन्य सत्ता भूमिमें कल्लोल करे और पर वस्तुमें क्रीड़ा करनेका त्याग करे।

आगे कारणपरमाणु और कार्यपरमाणुका हेतु कहते हैं—

धाउचउक्कस्स पुणो, जं हेऊ कारणंति तं णेयो।
खंधाणं अवसाणं, णादव्वो कज्जपरमाणू ॥ २५ ॥

सामान्य अर्थ—चार धातुका जो हेतु है वह कारण परमाणु है तथा स्कंधोंका अंतिम भाग कार्य परमाणु है, ऐसा जानना योग्य है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें कारणपरमाणु द्रव्य और कार्यपरमाणु द्रव्यका स्वरूप वर्णित है। पृथ्वी, जल, तेज और वायु ये चार धातु हैं। इन चार धातुओंका जो कारण है वह कारण परमाणु है। अर्थात् जिन परमाणुओंके सम्बन्धसे ये चार

धातुयें परिणत होती हैं, स्कंध रूप दीखती हैं, वे परमाणु कारण परमाणु कहलाते हैं।

ये कारण परमाणु ही जघन्य परमाणु हैं। इनमें स्निग्ध और रूक्ष गुणोंका सबसे जघन्य अनंतवां भाग रहता है। यह सम अथवा विषमरूपसे दोनों प्रकार भी बंध योग्य नहीं है, अर्थात् न दो गुण स्निग्ध व रूक्षवाला परमाणु अन्य दो गुण स्निग्ध व रूक्षसे बंधता है और न तीन गुण रूक्ष व स्निग्ध वाला परमाणु तीन गुणवालोंसे बंधता है किंतु स्निग्ध रूक्ष गुणोंको अनन्तताके उपरके परमाणु जिनमें दो गुण होंगे वे चार गुणवाले परमाणुओंसे बंधेंगे।

जो तीन गुणवाले परमाणु होंगे वे पांच गुणवाले परमाणुओंसे बंधेंगे। दो गुण अधिकसे ही बंध होता है। यही (बंध योग्य) उत्कृष्ट परमाणु है। पुद्गल द्रव्य स्कन्धोंके गलते हुए अन्तिम अवस्थामें रहा हुआ जो परमाणु सो कार्यपरमाणु है।

इस प्रकार अणु चार प्रकारके हैं—कार्यरूप, कारणरूप, जघन्यरूप, उत्कृष्टरूप। यह परमाणुद्रव्य अपने स्वरूपमें स्थितरूप होनेसे विभावस्वभावसे रहित है इसलिये परमस्वभाव है। ऐसा ही श्री प्रवचनसारमें 'णिद्धा वा' आदि गाथामें कहा है जिसका अर्थ ऊपर आ गया है। विशेष यह है कि स्निग्ध रूक्षसे, रूक्ष रूक्षसे, स्निग्ध स्निग्धसे सम हो व विषम दो गुण अधिक होनेसे बंध प्राप्त होता है। टीकाकार श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव कहते हैं "कि मैं छः प्रकार स्कन्ध और चार प्रकार परमाणुओंसे अपने आत्माको भिन्न शुद्ध अक्षयरूप बारम्बार भावता हूं।"

भावार्थ—पुद्गल चाहे स्कन्ध हो या अणु हो शुद्ध आत्माके ज्ञानानन्दमय टंकोत्कीर्ण परम स्वभावसे सर्वथा भिन्न है। उसकी

भावना कार्यकारी नहीं है। इसलिये शुद्ध आत्मस्वभावकी बारम्बार भावना ही उपादेय कार्यकारी और कर्त्तव्य है, सो भावना भावक पुरुषको उपशम भाव प्रदान कर सुधारस गर्भित परमाह्लादको प्रदान करती है।

अब परमाणु विशेषको कहते हैं—

अत्तादि अत्तमज्झं, अत्तंत णेव इंदिए गेज्झं।
अविभागी जं दव्वं, परमाणू तं विआणाहि ॥ २६ ॥

सामान्य अर्थ—जिसका स्वयं स्वरूप ही आदि मध्य और अन्तरूप है, जो इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहण योग्य नहीं है ऐसा अविभागी जिसका दूसरा भाग नहीं हो सके सो द्रव्य परमाणु जाननेयोग्य है।

विशेषार्थ—जैसे नित्य अनित्य निगोदसे ले सिद्धक्षेत्र पर्यंत स्थित सर्व ही जीव अपने स्वाभाविक परम पारिणामिक भावरूप सहज निश्चयनयके द्वारा अपने अपने स्वरूपसे कभी च्युत-पतित नहीं होते, वैसे ही परमाणु द्रव्य पारिणामिक भावकी अपेक्षासे परम स्वभावका धारी है।

उस परमाणुकी आत्मा ही आदि है अर्थात् वह स्वयं आदिरूप है वही मध्यरूप है वही अन्तरूप है। जैसे आत्मा अपने स्वरूपका आप ही आदि मध्य अन्तरूप है वैसे ही परमाणुको भी जानना अर्थात् आत्मा जैसे आदि मध्य अन्तरहित है, वैसे परमाणुको भी अनुभव करना। आदि मध्य अन्तरूप वही स्वयं है। इसलिये वह परमाणु अपने आत्माके समान पंचेन्द्रिय ज्ञानगोचर नहीं है, वह परमाणु निर्भेद है। अग्नि आदिसे अविनाशी है, विभागरहित अविभागी है। हे शिष्य! परमाणुका स्वरूप तुम ऐसा जानो।

टीकाकार कहते हैं अब स्वरूप पुद्गलकी स्थिति

ही जानकर वे सिद्धजीव अपने चैतन्यस्वरूप चिदात्मामें क्यों नहीं तिष्ठें, अपि तु तिष्ठें ही तिष्ठें।

आगे स्वभावपुद्गलका स्वरूप कहते हैं—

एयरसरूवगंधं, दो फासं तं हवे सहावगुणं।
विहावगुणमिदि भणिदं, जिणसमये सव्वपयडत्तं ॥ २७ ॥

गाथा ए अर्थ—एक रस एक रूप एक गंध और दो स्पर्श इतने गुणोंसे सहित स्वभावगुण पुद्गलका जिनआगममें प्रगट रूपसे कहा है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें स्वभावपुद्गलके स्वरूपका कथन है। तीखा, कडुवा, कषायला, आम्ल, और मधुर इन पांच प्रकारके रसोंमेंसे एक रस होता है। श्वेत, पीला, हरा, लाल, काला इन पांच वर्णोंमें एक वर्ण होता है। सुगंध और दुर्गंधमेंसे एक गंध होती है। कड़ा कोमल, भारी, हलका, शीत, उष्ण चिकना, रूखा इन आठ स्पर्शोंमेंसे अंतमें कहे जो चार स्पर्श उनमेंसे अविरोधी दो स्पर्श होते हैं अर्थात् शीत अथवा उष्ण चिकना अथवा रूखा। इस प्रकार पांच [illegible] गुण पुद्गल परमाणुके स्वाभाविक गुण हैं ऐसा जिनेन्द्रभगवानके आगमका मत है। विभावगुणरूप विभाव पुद्गल है। वह दो अणु आदिसे ले संख्यात असंख्यात अनंत अणुओंके स्कंधरूप हैं, विभावगुणधारी हैं। सम्पूर्ण इन्द्रिय मार्गोंके द्वारा ग्रहण योग्य हैं। इन्द्रियोंसे स्कंधोंका ग्रहण हो सकता है ऐसा भावार्थ है।

ऐसा ही औपचारिकग्रन्थमें भी कहा है। उसका अभिप्राय ऊपर आगया। विशेष इतना भी परमाणु स्वयं अशुद्ध है पर शुद्ध शब्दका कारण है। तथा मार्गेरकाचार्यने भी ऐसा ही कहा है। टीकाकार कहते हैं कि एक परमाणु अपने वर्णादि गुणोंसे वर्तनेमें प्रकाशमान है परन्तु उस मेरे कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती

ऐसा निश्चयकरके जो भव्य जीव परम सुखमई मोक्षपदका इच्छक है उसको अपने हृदयसे एक शुद्ध आत्माकी ही भावना करनी उचित है।

भावार्थ—सब पर वस्तुओंको हेय जान भव्यजीवोंको एक शुद्ध निज आत्मा ही उपादेय ध्येय और सम्यक् मनन योग्य है।

अब स्वभाव विभाव पर्यायको कहते हैं—

अण्णणिरावेक्खो जो, परिणामो सो सहावपज्जाओ ।
खंधसरूवेण पुणो, परिणामो सो विहावपज्जायो ॥ २८ ॥

सामान्य अर्थ—जो परिणमन अन्यकी अपेक्षाकरके रहित होता है वह स्वभाव पर्याय है। और जो परिणमन स्कंधरूप होता है वह विभावपर्याय है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें पुद्गलकी पर्यायका [illegible] पुद्गलकी परमाणुरूपपर्याय पुद्गलकी शुद्ध पर्याय है, [illegible] परम पारिणामिक भाव है। वस्तुमें षट्प्रकार हानि [illegible] अत्यंत सूक्ष्म अर्थपर्याय होती हैं सो [illegible] और वा ये होनेपर भी परद्रव्यकी अपेक्षा रहित [illegible] सद्भूत-व्यवहारनयरूप है अथवा निश्चय [illegible] उत्पाद अर्थात्, उदय विनाश, तथा ध्रौव्य [illegible] स्वरूप है। इस अपेक्षासे सूक्ष्म ऋजुसूत्र नयका [illegible]

स्कंधरूप पर्याय अपने सजातीय [illegible] इस लक्षणसे अशुद्ध है। इसलिये विभाव [illegible] कहते हैं पर परिणमनसे दूर शुद्ध [illegible] पर्याय है स्कंधपर्याय नहीं है, तथा [illegible] चैतन्यनाथ श्री भगवान्‌ने पंचास्तिकाय [illegible] और ऐसे श्रीसिद्ध महाराज [illegible]

विभावपर्याय रहित नित्य है ।

आगे पुद्गलद्रव्यके व्याख्यानको संकोचते हैं—

पोग्गलदव्वं उच्चई, परमाणू निच्छयेण इदरेण ।
पोग्गलदव्वोत्ति पुणो, ववदेसो होदि खंधस्स ॥ २९ ॥

सामान्य अर्थ—निश्चयनयकरके परमाणुको पुद्गलद्रव्य कहते हैं तथा व्यवहारनयकरके स्कंधको भी पुद्गलद्रव्य कहा जाता है ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें पुद्गलद्रव्यके व्याख्यानको संकोचा है । स्वभावसे शुद्ध पर्यायरूप परमाणुहीके शुद्ध निश्चय करके पुद्गलद्रव्य संज्ञा है । तथा व्यवहार नयकरके विभावपर्यायरूप स्कंधपुद्गलोंको भी पुद्गल द्रव्य ऐसा नाम कहा जाता है । टीकाकार कहते हैं कि "हे भव्यजीव ! जिनेन्द्र भगवानके आगमके तत्त्वार्थोंका स्वरूप जानकर तू समस्त चेतन अचेतन पदार्थोंको त्याग और अंतरंग निर्विकल्प समाधिमें लीन होकर पर पदार्थोंसे रहित चैत एक चमत्कारमात्र परमतत्त्वका भजन कर" ।

भावार्थ—यह पुद्गलका विकल्प उपादेय नहीं है । उपादेय अपना एक चैतन्यका परमतत्त्व है, जिसमें लीन हो मुमुक्षुओंको सुख प्राप्त करना चाहिये । पुद्गल द्रव्य अचेतन है, जीव द्रव्य चेतन है, यह कल्पना प्रथम अवस्थामें साधर्मियोंके होती है । जो योगी निष्पन्न हैं अर्थात् ध्यानाभ्यासमें पूर्ण हैं उनको यह कल्पना नहीं होती । यदि मुनियोंकी ऐसी शुद्ध दशा होती है जिससे वे यह अनुभव करते हैं कि जैसे अचेतन पुद्गल कायमें न द्वेषभाव है न रागभाव है, उसी तरह अचेतन परमात्मतत्त्वमें रागद्वेष भाव नहीं है ॥ २९ ॥

आगे धर्मादि द्रव्यका स्वरूप कहते हैं—

गमणणिमित्तं धम्मं, मधम्मं ठिदि जीवपुग्गलाणं च ।
अवगहणं आयासं, जीवादीसव्वदव्वाणं ॥ ३० ॥

सामान्य अर्थ—जीव पुद्गलोंके गमनमें निमित्त धर्मद्रव्य है और स्थितिमें निमित्त अधर्मद्रव्य है तथा जीवादि सर्वे द्रव्योंको अवगाहन अर्थात् स्थान देनेवाला आकाशद्रव्य है।

विशेषार्थ—इस गाथामें धर्म, अधर्म और आकाशका संक्षेप कथन है। यह धर्मास्तिकाय स्वयं गमनक्रियासे रहित है, जैसे आयिकामें अ इ उ ऋ लृ, पंच लघुअक्षरमात्र कालमें स्थित १४ वें गुणस्थानवर्ती अयोगजिन अब अंतके समयमें पंचमगतिको अपनी स्वभाव गमनक्रियाकी परिणतिसे गमन करते हैं, तब यह धर्मद्रव्य उनको स्वभाव गति क्रियाहेतुरूप होता है। कैसी है पंचमगति मोक्ष, जहां सम्पूर्ण क्लेश और दुःखोंका पर द्रव्य, क्षेत्र काल, भव, भावरूप पंचप्रकार संसारका अभावपने स्थान नहीं है। फिर कैसी है वह पंचमगति, कि जिसमें रहनेवाले जीव सिद्ध कहलाते हैं।

जहां छः कायरूप जीवोंका नाम जो चारों गतियोंके अंदर होता है छूट जाता है। तथा वह मोक्षस्थानरूप सिद्धशिला तीन लोकके अग्रभाग विराजमान है। जिस सिद्ध अवस्थामें स्थित जीव मोक्षरूप लोके नत्रोंको देखकर तृप्त रहते हैं। तथा षट्कायमें परिभ्रमण करनेवाले संसारीजीवोंके यही धर्मद्रव्य विभावगति क्रियाका हेतु होता है। जैसे मछलियोंकेलिये जल कारण होता है वैसे ही जीव पुद्गलोंके गमनका कारण यह धर्मद्रव्य है। यह अमूर्तीक है। आठ स्पर्श, पांच वर्ण, पांच रस, और दो गंध ऐसे पुद्गलोंके २० गुणसे रहित है। अगुरुलघुत्व आदि गुणोंका आधार है। लोकाकाशमात्र आकारका धारी है, अखंड एक पदार्थ है।

आगमका यह वचन है कि —

"सहभुवो गुणाः क्रमवर्तिनः पर्यायाः।"

अर्थात् साथमें रहनेवाले गुण होते हैं नवाली

पर्यायें होती हैं। इस कारण इस गतिहेतु भावक धर्मद्रव्यके शुद्ध ही गुण और शुद्ध ही पर्याय हैं।

अधर्मद्रव्य जीव पुद्गलोंको स्थितिमें कारण है, यही इसका विशेष गुण है। धर्मास्तिकायके समान इसके भी सर्व शुद्धगुण और शुद्धपर्याय होते हैं। आकाशद्रव्यका जीवादि द्रव्योंको स्थान देना ही विशेष गुण है, अन्य सर्व गुण और पर्याय धर्म अधर्म द्रव्यके सदृश हैं।

लोकाकाश, धर्मद्रव्य, और अधर्मद्रव्य इन तीनोंका प्रमाण समान है, अलोकाकाश निश्चयकरके सबसे बड़ा है।

टीकाकार कहते हैं कि—"हे भव्य जीव! इस लोकमें जीव पुद्गलोंको गमन वा स्थितिका कारण तथा सर्व द्रव्योंको स्थानदान देनेका कारण जो जो द्रव्य हैं उन सबको द्रव्य अपेक्षा यथार्थ अवलोकन कर, तू सर्वदा निज आत्मीक तत्वमें ही प्रवेश कर।

भावार्थ—धर्माधर्माकाशको ज्ञेयत्वमात्र ही जान, इनको उपादेय न मान, एक अपने शुद्ध आत्मीक तत्वकी भावना कर। यही भावना तेरेलिये महा कल्याणकारी है ॥ ३० ॥

आगे व्यवहार कालके भेदोंको कहते हैं—

समयावलिभेदेण दु, दुवियप्पं अहव होई तिवियप्पं।
तीदो संखेज्जावलि, हदसंठाणप्पमाणं तु ॥ ३१ ॥

सामान्य अर्थ—समय और आवलीके भेदसे व्यवहारकालके दो भेद हैं अथवा तीन भेद हैं। अतीत कालमें अनंत आवली बीती हैं ऐसा ही अनंत हतसंस्थान अर्थात् सिद्धोंका प्रमाण है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें व्यवहार कालके विविध भेदोंका कथन है। एक आकाशके प्रदेशमें जो परमाणु तिष्ठा है उसको अन्य परमाणु मंद चलनरूप गतिसे लांघ जाता है। उसमें

जितना समय लगता है उसको समय नामका व्यवहार काल कहते हैं।

इस प्रकारके असंख्यात समयोंका एक निमेष होता है। आंखको पलक मारनेमें जितना समय लगे उसको निमेष कहते हैं। आठ निमेषोंकी एक काष्ठा होती है। १६ काष्ठाओंकी एक कला होती है। ३२ कलाओंकी एक घटिका होती है। ६० घटिका अर्थात् नालिकाका एक दिनरात होता है। ३० दिन रातिका एक मास होता है। दो मासकी एक ऋतु होती है। तीन ऋतुका एक अयन होता है। दो अयनका एक संवत्सर अर्थात् वर्ष होता है।

इस प्रकार व्यवहार काल जानना। यही व्यवहार काल समय और आवलीके भेदसे दो प्रकार है। असंख्यात समयोंकी एक आवली होती है। यही काल अतीत, अनागत और वर्तमानके भेदसे तीन प्रकार है। अब अतीत कालका प्रपंच कहते हैं। सिद्ध पर्यायको प्रगट करनेवाले अतीत कालमें अनन्त सिद्ध हो गए हैं। संसार अवस्थाको त्यागकर छ संस्थान अर्थात् आकार विशेष जिनके नहीं रहे वे सिद्ध हैं, वे अनंत हैं, जिनके सदृश व्यवहारकाल भी अनंत होता है। अनागतकाल भी भविष्य सिद्धोंके समान अनंत है। यहां गाथामें जो असंख्यात आवलि शब्द है उसका यहां प्रकरणके वशसे अनंत आवलि अर्थ है ऐसा विदित होता है।

व्यवहारकालके भेद श्री पंचास्तिकायमें भी ऐसे ही कहे हैं। टीकाकार कहते हैं कि यह व्यवहारकाल जो समय, निमेष, काष्ठा, कला, नाडी, आदि दिवस वर्ष आदिके भेदसे प्रगट होता है, उस व्यवहारकालसे मुझे कोई फलकी प्राप्ति नहीं होती है। मुझे तो निज स्वभावसहित परम एक आत्मीक तत्त्वको छोड़कर और कोई नहीं है जिससे वास्तविक फलका लाभ हो।

भावार्थ—कालका विकल्प मात्र हेयरूप है, उपादेय नहीं है। उपादेयरूप तो एक अपना शुद्ध आत्मीक तत्व ही है। और कोई नहीं है।

अब मुख्यकालको कहते हैं—

जीवादु पुग्गलादो, ऽणंतगुणा चावि संपदा समया ।
लोयायासे संति य, परमट्ठो सो हवे कालो ॥ ३२ ॥

सामान्य अर्थ—जीवोंसे पुद्गल अनंत गुणे हैं वैसे ही पुद्गलसे अनंत गुणे कालके समय भी हैं। जो कालाणु लोकाकाशमें तिष्ठे हैं वे कालाणु परमार्थ यानी निश्चय काल हैं।

विशेष अर्थ—इस गाथामें मुख्य कालका वर्णन है। जीवराशिसे अनंत गुणे पुद्गलोंसे अनंत गुणे कालके समय हैं। यह समय व्यवहार काल है। परन्तु कालके अणु जो लोकाकाशके एक प्रदेशमें अलग अलग तिष्ठे हुए हैं वे परमार्थ यानी निश्चयकाल हैं। ऐसा ही श्रीप्रवचनसारमें कहा है। इस गाथामें भी समय शब्दसे मुख्य काल जो कालाणु उसका ही स्वरूप कथन किया है।

समय नाम व्यवहार कालरूप समय उसका उपादान कारण जो समय अर्थात् कालाणु सो अन्यप्रदेश अर्थात् द्वितीयादि प्रदेश रहित है। अर्थात् कालाणु एक प्रदेशी है। दूसरे दूसरे कालाणुओंसे जुदा हुआ नहीं है। सो कालाणु परिणमनका सहकारी है, इस हेतुसे वर्तन करता है। एक प्रदेश मात्र पुद्गल जातिधारी जो परमाणु द्रव्य मंदगतिसे आकाश द्रव्यके अन्य दूसरे प्रदेशको जाता है जिस प्रदेशमें कालाणु व्याप्त है।

इस परमाणुके इस वर्तनरूप कार्य्यमें कालाणु सहकारी है। द्रव्योंका वर्तना उदासीन रूपसे प्रवर्तनमें सहाई होना कालाणुरूप कार्य्य है ॥ अन्य ग्रन्थमें कहा है—

"अर्थात्—लोकाकाशके एक एक प्रदेशमें रत्नोंकी राशिके समान जो कालाणु अलग अलग स्थित हैं सो कालाणु लोकाकाशके असंख्यात प्रदेशोंके समान असंख्यात हैं"। ऐसा हो आगमवाक्योंमें कहा है अर्थात् "कालद्रव्यके अभावसे पदार्थोंका परिवर्तन नहीं हो सकता।

परिणमनके बिना न द्रव्य ठहर सकता है न उसकी पर्याय हो सकती है। इसलिये सब पदार्थोंका अभाव हो जावेगा।" लोकाचार कहते हैं कि जैसे कुम्भके बनानेमें चक्र कारण है, उसीप्रकार जो द्रव्योंके बदलनेको कारण हो वह काल द्रव्य है।

इस द्रव्यके बिना पांच अस्तिकायोंका वर्तन अन्य प्रकारसे नहीं हो सकता। सिद्धान्तको पढ़िये ये जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश, काल छहों द्रव्य सिद्ध हैं, इसलिये ये सब श्रद्धान करने योग्य हैं।

भावार्थ—सर्वज्ञवीतराग कथित सिद्धान्त अन्यथा नहीं हो सकता। इसलिये उनके आगममें वर्णित पदार्थ सत्य हैं। यही निश्चय आत्महितवांछकको करना योग्य है।

फिर भी काल द्रव्यके विषयमें कहा जाता है—

जीवादीदव्वाण, परिवट्टणकारणं हवे कालो।
धम्मादिचओमेण, सहावगुणपज्जया होंति ॥ २३ ॥

सामान्य अर्थ—जीवादि द्रव्योंके परिवर्तनका जो कारण सो काल द्रव्य है। तथा धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन चार द्रव्योंके स्वाभाविक गुण और पर्याय होते हैं।

विशेष अर्थ—इस गाथामें कालादि शुद्ध अमूर्तीक अचेतन द्रव्योंके स्वभावगुण और पर्यायोंका कथन है। निश्चय कालद्रव्य, जीव पुद्गल धर्म अधर्म और आकाश इन पांचों द्रव्योंके पर्यायोंके

परणमन करने अर्थात् बदलनमें कारणभूत है। इसीलिये इनको परिवर्तन लिंग कहते हैं। धर्म अधर्म, आकाश और कालके अपनेमें स्वजातीय किसी प्रकारके बंधके सम्बन्धका अभाव है, इस कारण इनमें विभावगुण पर्याय नहीं होती है, परन्तु मात्र स्वभाव गुणपर्याय ही होती है।

स्वभाव गुण पर्यायोंका कथन पहले कहा जा चुका है इसलिये यहां संक्षेपसे कहा है।

भावार्थ—प्रत्येक द्रव्यके स्वाभाविक गुण जो स्पष्ट कथन किये जा चुके हैं। इन चारमें षट्गुणी हानि वृद्धिरूप स्वभाव पर्याय हैं होती हैं। इनको समुद्र कल्लोलवत् ज्ञान आगम प्रमाणसे निश्चय करना योग्य है।

टीकाकार कहते हैं कि इस प्रकार षट् द्रव्योंका प्रगट व्याख्यान जो अतिशय करके कहा गया है सो बहुत ही रमणीक है, भव्य जीवोंके कानोंको अमृत समान है तथा निज स्वरूपके मनन करनेवाले मुनियोंके लिये यह ज्ञान दिया जाता है। इन षट्द्रव्योंका स्वरूप सर्वदा भव्यजीवोंको संसारसे छुड़ानेके लिये कारणरूप है।

आगे अस्तिकायको कहते हैं—

एदे छद्दव्वाणि य, काल मोत्तूण अस्थिकायत्ति।
णिद्दिट्ठा जिणसमये, काया हु बहुप्पदेसत्त ॥ ३४ ॥

सामान्य अर्थ—इस गाथामें द्रव्योंमें कालको छोड़ कर [illegible] पांच द्रव्य अस्तिकाय कहलाते हैं, क्योंकि निश्चयकरके इनके बहु प्रदेशीपना है, इससे कायसंज्ञा है। ऐसा जिनआगममें कहा है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें काल द्रव्य सिवाय अन्य द्रव्योंके अस्तिकायका वर्णन है। कालद्रव्य दो तीन आदि प्रदेशोंसे रहित है इसके एक ही प्रदेश है। कालके द्रव्यपना ही है। अन्य पांचके

कायवान् हैं ही, क्योंकि ये पाचों कायके समान कायरूप प्रदेशोंके समूहको धरनेवाले हैं।

अस्तिनाम सत्ताका है। यह सत्ता दो प्रकारकी है—एक अवान्तर सत्ता दूसरी महासत्ता। समस्त वस्तुओंमें विस्तार करके फैली हुई महासत्ता है। प्रति नियत एक वस्तुमें व्यापनेवाली अवान्तर सत्ता है। महासत्ता सब स्वरूपोंमें व्यापिनी है, किन्तु अवान्तर प्रति नियत एकरूपव्यापिनी है। अनंतपर्यायोंमें रहनेवाली महासत्ता है।

प्रति नियत एक ही पदार्थमें रहनेवाली अवान्तर सत्ता है। अस्ति नाम रहनेका है। उसका भाव अस्तित्व। अस्तित्वके साथमें कायत्वको रखनेवाले ये पंचास्तिकाय हैं। कालके अस्तित्व है परन्तु कायत्व नहीं है क्योंकि कालके कायके समान बहुत प्रदेश नहीं है।

टीकाकार कहते हैं कि "यह षट् द्रव्यरूप रत्नमाला जिनमार्गरूपी समुद्रसे पूर्व आचार्योंने भव्य जीवोंके कंठका आभरण बनानेके लिये प्रीतिपूर्वक प्रकट की है॥"

भावार्थ—इन षट् द्रव्योंका स्वरूप भव्यजीवोंको अपने ध्यानमें अच्छे प्रकार रखना चाहिये।

अब द्रव्योंकी प्रदेशसंख्याको कहते हैं—

संखेज्जासंखेज्जा, णंतपदेसा हवंति मुत्तस्स।
धम्माधम्मस्स पुणो, जीवस्स असंखदेसा हु॥ २५॥
लोयायासे ताव, इदरस्स अणंतयं हवे देसा।
कालस्स ण कायत्तं, एयपदेसो हवे जम्हा॥ २६॥

सामान्य [illegible] पुद्गलके संख्यात,

और अनंत प्रदेश होते हैं। धर्म, अधर्म, तथा एक जीवके संख्यात प्रदेश होते हैं। लोकाकाशके भी इतने ही हैं। अलोकाकाशके अनंत प्रदेश हैं। कालद्रव्यके कायपना नहीं है इससे एक प्रदेश ही होता है।

विशेष अर्थ—इन दो गाथाओंमें छहों द्रव्योंके प्रदेशोंका कथन है। शुद्ध पुद्गलके परमाणुद्वारा ग्रहण किया गया जो आकाश स्थल सो प्रदेश कहलाता है। इस प्रकार पुद्गल द्रव्यके प्रदेश संख्यात असंख्यात और अनंत होते हैं।

भावार्थ—कोई पुद्गलका स्कंध दोसे आदि ले संख्यात परमाणुओंका, कोई असंख्यातका तथा कोई अनंतका होता है। लोकाकाश, धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य तथा एक जीव द्रव्यके असंख्यात प्रदेश होते हैं। अलोकाकाशके अनंत प्रदेश होते हैं। कालके एक ही प्रदेश है। इसी कारण इसके कायपना नहीं है परन्तु द्रव्यपना अवश्य है ही।

टीकाकार कहते हैं कि "यह पदार्थरूपी रत्नोंका आभरण मैंने मुमुक्षुओंके कंठकी शोभाके लिये रचा है। जो बुद्धिमान है वह इसके द्वारा व्यवहार मार्गको जानकर फिर शुद्ध मार्गको जानो अर्थात् अनुभव करो।

अब अजीव द्रव्यके कथनको संकोचते हैं—

पुद्गलद्व्व मोत्त, मुत्तिविरहिया हवति सेसाणि।
चेदणभावो जीवो चेदणगुणवज्जिया सेसा ॥ ३७ ॥

सामान्य अर्थ—पुद्गल द्रव्य मूर्तीक है, अन्य शेष मूर्तिरहित हैं। जीव चेतन स्वभाववान है। शेष चैतन्यगुणसे रहित हैं।

विशेष अर्थ—इस गाथामें अजीव द्रव्यका संक्षेप है। मूल द्रव्योंमें पुद्गल द्रव्यको ही मूर्तिमानपना है। शेष जीव धर्म

अधर्म आकाश तथा काल मूर्तिपनेसे रहित अमूर्तीक हैं। तथा चेतनपना मात्र एक जीवद्रव्यके ही है। अन्य पांचों द्रव्य चेतना रहित हैं। स्वजातीय और विजातीय बंधनकी अपेक्षासे जीव पुद्गलोंके ही अशुद्धपना होता है। परन्तु धर्मादिक चार द्रव्योंके विशेषगुणकी अपेक्षासे शुद्धपना ही है।

टीकाकार कहते हैं कि जिस भव्योत्तमके मुखरूपी सरोवरसे ललित पदोंकी आवली कण्ठस्थ होकर नित्य प्रकाशमान होती है, उस निर्मलबुद्धिधारी जीवके हृदयरूपी कमलके मध्यमें शीघ्र ही समयसार अर्थात् शुद्धात्मा प्रकाशमान होता है। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

भावार्थ—जो कोई इन सुन्दर गाथाओंके पद अर्थको समझे उसको शीघ्र ही समयसार अर्थात् शुद्ध आत्माकी उपलब्धि होती है।

इस प्रकार सुकविजन-कमलोंके लिये सूर्यसमान, पांचों इन्द्रियोंके विषयोंके फैलावसे रहित शरीरमात्र ही परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभमलधारीदेव द्वारा विरचित श्रीनियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नामक व्याख्यामें अजीवाधिकार नाम दूसरा श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।



३—शुद्ध भावाधिकार

जीवादिबहित्तच्चं, हेयमुपादेयमप्पणो अप्पा।
कम्मोपाधिसमुब्भव, गुणपज्जाएहिं वदिरित्तो ॥३८॥

सामान्य अर्थ—जीवादि बाह्य तत्त्व हेय हैं, इस आत्माको निश्चयकारक आत्मा ही उपादेय है। यह आत्मा कर्मकी उपाधिसे पैदा होनेवाले गुणपर्यायोंसे भिन्न है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें हेय उपादेयतत्त्वोंके स्वरूपका कथन है। जीव, अजीव, आस्रव बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह सात तत्त्व परद्रव्य स्वरूप हैं इसलिये ग्रहण योग्य नहीं हैं। जो आत्मा स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि है, परद्रव्योंसे उदासीन पराङ्मुख है पंचेन्द्रियके विषयोंके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी है, परम जिन अर्थात् कषाय-विजयी योगीश्वर है तथा जिसने अपने ही हृदयमें अपनी बुद्धिको जोड़ दिया है ऐसे वीतराग आत्माकेलिये वही आत्मा उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है।

जो औदयिक, औपशमिक, क्षयोपशमिक और क्षायक चारों भावोंके अगोचर होनेसे द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि भावकर्म रागद्वेषादि नोकर्म बाह्य शरीरादि इन रूप जो उपाधि उससे उत्पन्न हुए जो विभावगुण और विभावपर्याय उनसे रहित है। जो आदि अन्तरहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय भावसे ही शुद्ध सहज पारिणामिक भाव स्वरूप कारण परमात्मा है। ऐसा ही आत्मा उपादेय है।

अत्यासन्न निकट भव्य जीवोंकेलिये ऊपर कहे प्रमाण निज परमात्माको छोड़कर और कोई वस्तु आदेय नहीं है, अर्थात् उनके एक निज शुद्ध स्वरूपका ही ग्रहण है। टीकाकार कहते हैं

"सर्वतत्त्वोंमें एक सारभूत जो समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा है उसकी जय हो। कैसा है वह समयसार, सम्पूर्ण विलय अर्थात् विकारोंसे दूर है। कठिनतासे निवारणे योग्य कामदेवको जिसने भस्म कर दिया है। पापरूपी वृक्षके काटनेको कुठारके समान है, शुद्ध ज्ञानका मानो अवतार है, ज्ञानरूपी समुद्रसे परिपूर्ण है, तथा क्लेशरूपी समुद्रसे पार हो चुका है।

भावार्थ—हितवांछकोंको ऐसा ही सारस्वरूप परमात्माको ध्यानमें लेकर अनुभव करना योग्य है। फिर भी कहते हैं —

णो खलु सहावठाणा, णो माणवमाणभावठाणा वा।
णो हरिसभावठाणा, णो जीवस्स हरिस्स ठाणा वा ॥ ३९ ॥

सामान्य अर्थ—इस समयसारके निश्चयकरके न तो कोई स्वभाव स्थान है न मान अपमानरूपी भावस्थान हैं न हर्षभावरूप स्थान हैं और न अहर्षभावरूप स्थान हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें निर्विकल्प तत्व स्वरूपका कथन है। भूत भविष्य वर्तमान तीनों कालमें जो निरुपाधि स्वभाव है अर्थात् जिसके कोई परद्रव्यसम्बन्धी उपाधि नहीं है, ऐसा जो शुद्ध जीवास्तिकाय है उसके निश्चयकरके कोई विभावरूप स्वभावस्थान नहीं है। शुभ अशुभ सबही मोह राग और द्वेषके अभावसे उस शुद्ध जीवके मानअपमानके कारणभूत कोई कर्मके उदयस्थान नहीं हैं। न निश्चय करके उसके शुभोपयोगरूप परिणति होती है।

इसलिये शुभकर्मका बंध नहीं होता। शुभकर्मके न होनेसे सांसारिक असार सुख नहीं होता, सांसारिक सुखके अभाव होनेसे उस शुद्ध जीवके कोई हर्षके स्थान नहीं है। इसीप्रकार उस शुद्ध जीवके अशुभोपयोगकी परिणति नहीं होती इस कारण अशुभ कर्मका बंध नहीं होता।

अशुभकर्मके अभावसे दुःख नहीं होता। दुःख न होनेसे इस शुद्ध आत्माके कोई अहप अर्थात् निहाल द (दुःख)के स्थान नहीं होते। टीकाकार कहते हैं कि—'हे भव्यजीव! यदि तू इस दुःखरूप संसारसे हटकर सुखकी इच्छा करता है तो तू क्यों नहीं अपनी बुद्धि इस आत्मामें करता, जो प्रीति-अप्रीति रहित अविनाशी पदमें विराजमान है।

जो सर्वथा अन्तर्मुख होकर भेदरहित वर्तमान सुखमई निराकार प्रकाशमान है। जिसका निर्मल शरीर चैतन्य-अमृतसे परिपूर्ण भरा हुआ है। तथा जो आत्मस्वरूप योगियोंके ध्यानके गोचर है।

भावार्थ—भव्यजीवको उचित है कि निरंतर ऐसे ही उत्कृष्ट स्वभाववाले आत्माका मनन कर अद्भुत और अनुपम सुखकी प्राप्ति करे। फिर भी कहते हैं—

णो ठिदिबंधट्ठाणा, पयडिट्ठाणा पदेसठाणा वा।
णो अणुभागट्ठाणा, जीवस्स ण उदयठाणा वा॥ ४०॥

सामान्य अर्थ—इस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो कोई स्थितिबंधके स्थान हैं, न प्रकृतिबंधके स्थान हैं, न प्रदेशबंधके और अनुभाग बंधके स्थान हैं तथा इसके कोई उदयस्थान भी नहीं हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें बंध व उदयके अभावस्वरूपका कथन है। इस शुद्ध जीवात्माके कषायरूप स्थितिबंधका कारण ऐसे कोई स्थितिबंध स्थान नहीं हैं अर्थात् जब आत्मामें कर्मोंका बंध होता है तब उसमें आत्माकी साथ उन कर्मोंके बन्ध बने रहनेकी मियादका नाम स्थितिबंध है। इस आत्माके स्थितिको लिये हुये कोई स्थिति बंधरूप कर्म नहीं है। और न स्थितिबंधका कारण कोई कषायस्थान है। न इस आत्माके ज्ञानावरण आदि अष्ट

कर्मरूप होने योग्य पुद्गल स्कंधोंका स्वीकाररूप प्रकृतिबंध न है। और न उसके कारण योगस्थान हैं।

अशुद्ध आत्माकी सत्तामें कर्मवर्गणारूप पुद्गलोंका परस्पर प्रदेशोंमें प्रवेश हो जाना सो प्रदेशबन्ध है। उस शुद्ध आत्माके न तो यह बंध है और न इस बंधके योग्य योगस्थान ही हैं।

शुभ अशुभ कर्मोंको जब निर्जरा होनेका समय आता है तब वे सुख-दुःख रूप फल प्रदान करते हैं उस समय जिस शक्तिसे फल प्रदान होता है उस शक्तिका नाम अनुभाग बंध है, उस शुद्ध आत्मामें इस अनुभाग बंधका और इसके कारण कषाय स्थानोंका जरा भी अवकाश नहीं है। और न इस निर्मल आकाश सदृश आत्मामें द्रव्यकर्म और भावकर्मके उदयरूप स्थानोंके ही रहनेकी जगह है। ऐसा ही श्री अमृतचंद्रसूरिने" कहा है—

जिस आत्मामें बद्ध और स्पर्शभावको लिए हुये कर्म प्रगट रूपसे ऊपर ही ऊपर रहते हैं उसमें स्थान करनेरूप प्रतिष्ठाको नहीं प्राप्त करते, तथा जो सर्व तरफसे प्रकाशमान है ऐसे आत्माको जगत्का सम्पूर्ण मोह छोड़कर हे भव्य जीव तू अनुभव कर। कैसा है आत्मा, जो सम्यक्स्वभावरूप है।

ऐसा ही "टीकाकार" भी कहते हैं। "मैं उस चैतन्यके पदका अतिशय करके अनुभव करता हूं जो नित्य शुद्ध चिदानन्दमयी सम्पदाकी खानि है उत्कृष्ट है। और विपदाओंका स्थान नहीं है। अर्थात् जिसमें किसी प्रकारकी आपत्ति नहीं है। जो भव्यजीव सब कर्मरूपी विषवृक्षसे पैदा होनेवाले अपने आत्माके रूपसे विलक्षण सांसारिक फलोंको त्यागकर स्वाभाविक सुख स्वरूप अपने आत्मतत्वको इस समय भोगता है वह भव्यजीव शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करता है। इसमें कौन जीव संशय कर सकता है?

भावार्थ—जो कोई दुःखजनित विषयसुखोंको विषके समान जानकर त्यागता है और अपने आत्मीकतत्त्वका अनुभव करता है वही जीव कर्मोंकी निर्जरा करता हुआ कुछेक भवोंमें मुक्तिको प्राप्त कर सकता है। इसमें संदेह नहीं करना चाहिये।

फिर भी कहते हैं—

णो खइयभावठाणा, णो खयउवसमसहावठाणा वा ।
ओदइयभावठाणा, णो उवसमणो सहावठाणा वा ॥ ४१ ॥

सामान्य अर्थ—इस शुद्ध जीवास्तिकायके न तो क्षायिकभावके स्थान हैं न क्षयोपशमभावके स्थान हैं, न औदयिक भावके स्थान हैं और न उपशमभावके स्थान हैं।

विशेष अर्थ—इस गाथामें चार विभाव स्वभावोंके कथनके द्वारा पंचम भावका व्याख्यान है। कर्मोंके क्षयसे जो भाव उत्पन्न हो सो क्षायिक भाव है, जैसे सात प्रकृतियोंके क्षयसे क्षायिक सम्यक्त होता है व चारित्र मोहनीके नाशसे क्षायिक चारित्र होता है।

कर्मोंके क्षयोपशमसे जो पैदा हो वह क्षयोपशमिक भाव है अर्थात् सर्व घातीके उदयाभावरूप क्षयसे तथा सर्व घातीके उपशमसे तथा देश घातीके उदयसे जो भाव हो सो क्षयोपशम भाव है जैसे छः प्रकृतियोंके उपशम तथा सम्यक्त मोहनीके देशघाती स्पर्धकोंके उदयसे क्षयोपशम सम्यक्त होता है।

जो भाव कर्मोंके उदयसे होता है सो औदयिक भाव है, जैसे नरकगतिके उदयसे नारकी। कर्मोंके उपशमसे जो भाव हो सो औपशमिक भाव है जैसे सात प्रकृतियोंके उपशमसे उपशम सम्यक्त होता है। सब कर्मरूपी उपाधिसे रहित जो भाव आत्माके स्वाभाविक परिणाममें हो सो पारिणामिक भाव है।

इन पांच भावोंमें औपशमिक भाव दो प्रकार, क्षायिक भाव नौ प्रकार, क्षयोपशम भाव १८ प्रकार, औदयिक भाव २१ प्रकार तथा पारिणामिक भाव तीन प्रकारका है। औपशमिक भावोंके दो भेद हैं, एक उपशम सम्यक्त्व दूसरा उपशम चारित्र। क्षायिक भाव नौ प्रकारके हैं, क्षायिक सम्यक्त्व, क्षायिक चारित्र अर्थात् यथाख्यात चारित्र, केवलज्ञान, और केवल दर्शन तथा अन्तराय कर्मके नाश होनेसे पैदा होनेवाले अनन्तदान, अनन्त लाभ अनन्त भोग, अनन्त उपभोग और अनन्त वीर्य हैं।

क्षायोपशमिक भावके १८ भेद यह हैं—मति श्रुत, अवधि, मनःपर्यय ये ज्ञान ४, कुमति, कुश्रुत और विभंग अवधि ऐसे अज्ञान तीन। चक्षु अचक्षु, अवधि ऐसे तीन दर्शन। काल करण, उपदेश उपशम और प्रायोग्यता ऐसी पांच लब्धियां अर्थात् काल लब्धि जिसको क्षयोपशम लब्धि भी कहते हैं दूसरी उपशम अर्थात् विशुद्धि लब्धि, तीसरी उपदेश अर्थात् देशना लब्धि, चौथी प्रायोग्य लब्धि, पांचवीं करण लब्धि, क्षयोपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशम चारित्र तथा संयमासंयम परिणति ये १८ भेद क्षयोपशम भावके हैं।

औदयिक भाव २१ प्रकार इस भांति है—नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव ऐसे चार गति, क्रोध मान माया लोभ ऐसे ४ कषाय। स्त्री, पुल्लिंग, नपुंसक ऐसे तीन लिंग, भाषा व समग्र तत्वोंका अपज्ञासे मिथ्यादर्शन एक अज्ञान एक, असंयम एक, असिद्धत्व एक शुक्ल, पद्म पीत कापोत, नील, कृष्ण ऐसे ६ लेश्या।

पारिणामिक भाव ३ प्रकार है—जीवत्व पारिणामिक, भव्यत्व पारिणामिक और अभव्यत्व पारिणामिक। इनमें जीवत्व पारिणामिकभाव भव्य अभव्य दोनोंके होता है। भव्यत्वभाव भव्योंहीके और अभव्यत्व अभव्योंहीके होता है।

इस प्रकार पांचप्रकार भावोंके ५३ भाव हैं। इन पांच भावोंके बीचमें क्षायिकभाव तो कार्यसमयसार स्वरूप है। यह कार्यरूप भाव तीर्थंकर उपलक्षणसे सामान्य केवली अथवा सिद्धके होता है। कैसे हैं तीर्थंकर, तीन लोकके प्रक्षोभके कारणभूत तीर्थंकरपनेके द्वारा सम्पूर्ण प्रकार निर्मल केवलज्ञान जिसको प्राप्त हुआ है। औदयिक, औपशमिक, और क्षयोपशमिक, ये भाव संसारियोंहीके होते हैं।

मुक्त जीवोंके ये भाव नहीं होते। परन्तु ये चारों ही भाव कर्मोंके आवरणकी अपेक्षासे होते हैं। इसलिये ये चारों ही मुक्तिके कारण नहीं हैं। तीनों कालमें जिसको किसी प्रकारकी उपाधि नहीं है ऐसा निरुपाधि निरञ्जनरूप जो अपना ही शुद्ध पारिणामिक पंचम भाव है उसहीकी भावना करनेसे मुमुक्षु जीव मोक्षरूप पञ्चम गतिमें जाते हैं, जायेंगे और गए हैं।

भावार्थ—यहां शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे कथन है। जब मुमुक्षु अपने निर्विकल्प शुद्ध स्वभावका अनुभव करता है तब ही कर्मबन्ध शिथिल होते हैं तथा उनकी निर्जरा होती है। और आत्माकी मोक्ष होनेकी अवस्था निकट आती जाती है।

टीकाकार कहते हैं कि "दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य ऐसे पांच आचारोंको आचरणेवाले विद्वान लोग सब मतको त्याग कर एक पञ्चमभावहीको मोक्ष प्राप्त करनेके लिये स्मरण करते हैं। और किसी भावका मनन नहीं करते। सर्वज्ञ कमला भी भागी जीवोंके लिये भोगोंका मूल समझकर परम तपोराज भी मुनि छोड़ देते हैं और परम समयसाररूप सारभूत अपने तत्त्व स्वरूपको समतासे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये भजते हैं इसमें कौनसा दोष है। अर्थात् वही निर्दोष कार्य है।"

भावार्थ—मुनीश शुभ पुण्यको भी हेय समझते हैं और शुद्ध

स्वरूपकी पारभूतभावनामें तल्लीन रहते हैं। यही भावना शुद्ध स्वभावके प्रगट होनेके लिये परम साक्षात् कारण है। इस लिये मोक्षपद इच्छुकोंको स्वरूपभावना ही कर्तव्य है।

चउगइभवसंभमण, जाइजरामरणरोयसोका य।
कुलजोणिजीवमग्गण, ठाणा जीवस्स णो सन्ति ॥ ४२ ॥

सामान्य अर्थ—इस शुद्ध जीवके चार गतिमें भ्रमण नहीं है, न इसके जन्म, जरा, मरण और शोक हैं। तथा इसके कुल, योनि, जीवसमास और मार्गणा स्थान भी नहीं हैं।

विशेष अर्थ—इस गाथामें शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षा यह कथन है कि इस शुद्ध जीवके समस्त संसारिक विकार नहीं हैं। यह शुद्ध जीवास्तिकाय द्रव्य कर्म और भाव कर्मको स्वीकार नहीं करता इस कारण नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव ऐसी चार गतियोंमें भ्रमण नहीं करता।

यह आत्मा नित्य शुद्ध चिदानन्दरूप है कारण परमात्मस्वरूप है अर्थात् इसीके ही ध्यान करनेसे परमात्मा होता है। न इस जीवके द्रव्यकर्म भावकर्मके ग्रहण योग्य विभावपरिणति होती है इसलिये इसके जन्म, जरा, मरण, रोग और शोक नहीं है। न इसके चार गति सम्बन्धी जीवोंके योग्य कुल और योनिके विकल्प हैं।

कुल और योनिके भेद कहते हैं—पृथ्वीकायिक जीवोंके बाईसलाख कोड़ कुल हैं। जलकायिक जीवोंके सात लाख कोड़ कुल हैं। तेजकायिक जीवोंके तीन लाख कोड़ कुल हैं। वायुकायिक जीवोंके सात लाख कोड़ कुल हैं। वनस्पतिकायिक जीवोंके अट्ठाईस लाख कोड़ कुल हैं।

द्वीन्द्रिय जीवोंके सातलाख कोड़ कुल हैं, तेन्द्रिय

अठ्ठाईस लाख कोड़ कुल हैं। चौइन्द्रिय जीवोंके नौ लाख कोड़ कुल हैं, पंचेन्द्रियोंमें जलचर जीवोंके साढ़े बारह लाख कोड़ कुल हैं, आकाशचारी पक्षियोंके बारह लाख कोड़ कुल हैं। चार पैर वाले पशुओंके पचीस लाख कोड़ कुल हैं। मनुष्योंके बारह लाख कोड़ कुल हैं, देवोंके छब्बीस लाख कोड़ कुल हैं, सब मिलके एकसौ साढ़े सत्तानवे लाख कोड़ कुल हैं (१९७५०-००००००००० कुल हैं)।

अब योनियोंके भेद कहते हैं—पृथ्वीकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं। जलकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं। तेजकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं। वायुकायिक जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं। नित्य निगोद जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं। चतुर्गति निगोद जीवोंके सात लाख योनिमुख हैं। वनस्पति कायिक जीवोंके दश लाख योनिमुख हैं।

द्वीन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुख हैं। त्रीन्द्रिय जीवोंके दो लाख योनिमुख हैं, देवोंके चार लाख योनिमुख हैं। नारकियोंके चार लाख योनिमुख हैं। तिर्यंच पंचेन्द्रियोंके चार लाख योनिमुख हैं। मनुष्योंके चौदह लाख योनिमुख हैं। स्थूल एकेन्द्री, सूक्ष्म एकेन्द्री, संज्ञी पंचेन्द्री असंज्ञी पंचेन्द्री, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय यह सात प्रकारके जीव पर्याप्त और अपर्याप्तके भेदसे चौदह प्रकार होते हैं। इनहीको १४ जीव समास कहते हैं।

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञा, आहारक ऐसे १४ प्रकार मार्गणा स्थान हैं। इन समास मार्गणास्थान आदिका स्वरूप श्री गोमट्टसारसे जानना योग्य है।

श्री भगवान् सूत्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्यजीका यह अभिप्राय है कि शुद्ध निश्चय नयकरके इस भगवान् परमात्मा अर्थात् शुद्ध जीवास्तिकायके यह कुल योनि, समास, मार्गणा आदि कोई नहीं है।

ऐसा [redacted] श्री अमृतचन्द्र सूरिने कहा है। "सब ही चेतन व शक्तिसे खाली जो पदार्थ हैं उनको इस समय त्यागकर तथा प्रगटरूप अपनी चेतन व मात्र शक्तियें प्रवेशकारक जगतके साक्षात् ऊपर ऊपर रहनेवाले अन्तरहित आत्माको अपने आत्मामें ही यह परमात्मा अर्थात् महान आत्मा अनुभव करे। चेतन व शक्तिसे व्याप्त सबका सारभूत यह आत्मा है, यह इतना ही है इसके सिवाय अन्य सर्व [redacted] भाव पुद्गल मय ही हैं।"

भावार्थ—चेतन व शक्तिका पुंज यह आत्मा ही है। जगतमें रहते हुए भी जगतके पदार्थोंसे भिन्न है। इसलिये इस शुद्ध आत्माका अनुभव कार्यकारी है।

टीकाकार कहते हैं कि "यह आत्मा जो निरंतर ऐसी भावना करे कि मैं अखंड ज्ञानरूप हूं वो भयानक संसार सम्बन्धी विकल्पको दूर करता है। और निर्विकल्प समाधिको प्राप्तकरके सत्ता मात्र रहकर पर परिणमनसे दूर शुद्धता रहित और पापवर्जित अवस्थाको प्राप्त करता है।

इस प्रकार श्री वीरनाथ तीर्थंकरसे पापपुंजरूपी अंधकारका घात करनेको प्रवीण तथा जन्म जरा मरणका नाशक ऐसा उपदेश पाकर भव्य और शीलके जहाज जो सत्पुरुष सो संसार समुद्रके अगले तटको पहुंच जाते हैं। ऐसे हैं वीरनाथस्वामी, जिनके चरणारविंद भक्तिसे भरे इन्द्रोंके मुकुटोंकी सब रत्नमालाओंसे पूजनीक हैं।

भावार्थ—श्री वर्द्धमानस्वामीका यही उपदेश है जो संसारके विकल्प दूरकर आत्मानुभव करो—इस उपदेशको मानकर चलने वाले जीव अवश्य मुक्तिके भोगी होते हैं।

फिर ■ हैं—

णिद्दंडो णिद्दंदो, णिम्ममो णिक्कलो णिरालंबो।
णीरागो णिद्दोसो, णिम्मूढो णिब्भयो अप्पा ॥ ४३ ॥

गाथा ४ अर्थ—यह शुद्ध आत्मा दण्ड रहित है, द्वन्द्व रहित है, ममकार रहित है शरीर रहित है, आलम्ब रहित है, राग रहित है, दोष रहित है, मूढ़ता रहित है, तथा भय रहित है, निश्चय करके ऐसा जानो।

विशेष अर्थ—इस गाथामें कहते हैं कि शुद्ध आत्माके समस्त विभावभावोंका अभाव है। मनदण्ड, वचनदण्ड, और कायदण्ड अर्थात् मन वचन कायकी क्रिया और इनके योग्य द्रव्यकर्म और भावकर्म होनेके अभावसे यह शुद्ध आत्मा निर्दंड है।

निश्चय करके यह शुद्ध आत्मा ही परम पदार्थ है सब अन्य पदार्थोंसे रहित है इस कारण निर्द्वन्द्व है। न इस आत्माके शुभ तथा अशुभ समस्त मोह राग द्वेष हैं, इनके अभाव होनेसे यह आत्मा ममकार रहित निर्मम है। निश्चयकरके औदारिक, वैक्रियिक, आहारक तैजस कार्माण इन पांच शरीरोंसे रहित होनेसे यह आत्मा निःकल अर्थात् अशरीर है।

निश्चय करके इस परमात्माके परद्रव्यका कोई आलम्ब अर्थात् सहारा नहीं है इसलिये यह निरालम्ब है। मिथ्यात्व, वेद, राग, द्वेष, हास्य रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया, लोभ इसप्रकार चौदह प्रकारका अभ्यंतर परिग्रह इस प्रभुके नहीं है। इसलिये यह शुद्ध आत्मा नीराग है।

निश्चयकरके सम्पूर्ण पाप मलकलंकरूपी कीचड़से रहित सम्यक्प्रकार स्वाभाविक परमवीतरागरूप सुख समुद्रके मध्य डूबी हुई प्रगट सहज आत्माकी अवस्था होनेके कारण यह शुद्ध आत्मा

स्वाभाविक ज्ञानरूप शरीरके धारनेसे पवित्र है इसलिये यह आत्मा निर्दोष है।

स्वाभाविक निश्चयनयके बलसे स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र तथा स्वाभाविक परमवीतराग सुख आदि अनेक परमधर्मोंको धारण करनेवाला ऐसा जो निज परमतत्व सबके जाननेको शक्तिमान है इस कारण यह शुद्ध आत्मा निर्मूढ अर्थात् मूढता रहित है। अथवा निर्मूढके स्थानमें निर्गूढ शब्द भी है इसलिये कहते हैं कि आदि सहित परन्तु अंतरहित अमूर्तीक अतीन्द्रिय स्वभावरूप होनेसे शुद्ध सद्भूत व्यवहार नयके बलसे यह आत्मा भूत भविष्य वर्तमान त्रिकाल सम्बन्धी तीनलोकवर्ती समस्त त्रस स्थावर जीवोंको, व चर अचर पदार्थोंको तथा उनके सम्पूर्ण गुण और पर्यायोंको एक ही समयमें जाननेको शक्तिमान जो सम्पूर्णतया निर्मल केवलज्ञानरूप अवस्था उसको धारण करनेवाला है, इस कारण यह शुद्ध आत्मा निर्गूढ अर्थात् कोई बात जिससे छिपी नहीं है ऐसा है।

तथा जो आत्मा सर्व पापरूप वैरियोंकी सेनाके किसी प्रकार भी प्रवेश योग्य नहीं है ऐसे शुद्ध निज आत्म तत्त्वरूप महान् दुर्ग अर्थात् किलेमें बसनेके कारण निर्भय अर्थात् भयरहित है।

भावार्थ—जो दुष्प्रवेश दुर्गमें बसे, जहां कोई शत्रु घुस नहीं सके उसको किस बातका भय? ऊपर कहे हुए विशेषणों सहित जो शुद्ध आत्मा है सो ही उपादेय है—अनुभव करनेके योग्य है।

ऐसा ही श्रीअमृताशीति नाम ग्रन्थमें कहा है—"यह शुद्ध आत्मा अ आ आदि स्वर समूह व विसर्ग क ख ग आदि व्यंजन ऐसे अक्षरोंसे रहित है, स्वहितहानिसे रहित अविनाशी सुखरूप है, उसके पंच रस, अष्टप्रकार, रूप, स्पर्श, गंध, शब्द,

वायु, पृथ्वी अग्नि आदिके अणु और स्थूलरूप तथा दिशाओंके भाग नहीं हैं।"

टीकाकार कहते हैं यह समयसार, अर्थात् शुद्ध आत्मा शीघ्र ही हमारी रक्षा करे। कैसा है यह समयसार, जो पापरूपी वनके काटनेके लिये कुठारके समान है। जो दुष्ट कर्मोंको विजयको प्राप्त कर चुका है, पररूप परिणमन करनेसे दूर है। ज्ञानरूपी समुद्रको जिसने शोध लिया है। नानाप्रकारके विकार अर्थात् विभावभाव उनको जिसने नाश कर डाले हैं, जो सत्य ज्ञान द रूपी समुद्र है तथा जिसने कामदेवको भस्म कर दिया है। ऐसा परमतत्त्व जयवन्त हो।

जो आत्मतत्त्वमें तल्लीन पद्मप्रभमुनिके हृदय-कमलमें विराजित है, जो विकार रहित है, नानाप्रकार विकल्पोंका नाश करनेवाला है तथा जो कल्पनामात्र अर्थात् देखनेमात्र सुन्दर ऐसे भवभवके सुख दुःखोंसे रहित है, बुद्धिमान आचार्योंने जिस परमतत्त्वक ऐसा ही स्वरूप कहा है।

हे भव्य जीव ! यदि भव्यतारूपी भावने तुझको प्रेरित किय है तो तू संसारसे मुक्ति प्राप्त करनेके लिये ऐसे ही आत्माक भजन कर, जो रात्रिदिन अपने अनन्त ज्ञानके आधीन है। जो स्वाभाविक गुणरूपी रत्नोंकी खानि है, जो सर्वतत्त्वोंमें सार तथा आत्मीक परिणतिसे उत्पन्न सुखरूपी समुद्रमें मग्न है।

हे यते ! जो तू संसार और भोगोंसे उदास है तथा नि: आत्मामें अपनी बुद्धि धारनेवाला है तो तू संसारके कारण कर्म बन्धको नाश करनेवाला जो यह आत्मीक पद है उसीका भज कर। विनाश होनेवाली वस्तुको चिन्ता करनेसे तुझको क्या लाभ होगा? मैं इस समयसार अर्थात् शुद्ध आत्माको समता सबसे सदा पूजता हूं, जो समयसार परमात्मा आकुलता

रहित है, अपने गुणोंसे अच्युत अर्थात् दृढ़ है, जन्म मरण रोगादिसे रहित है तथा स्वाभाविक निर्मल ज्ञान दर्शनरूपी अमृतका घर है।

पूर्व सूत्रकार आचार्योंने जैसा आत्मतत्त्वका वर्णन किया है वैसा ही निज आत्मतत्त्वको अपने स्वसंवेदन ज्ञानके द्वारा विशुद्धरूप जान करके तथा अनुभव करके जो कोई भव्यजीव मुक्तिको प्राप्त करता है उस शुद्ध आत्माको मैं उत्तम सुखकी प्राप्तिके लिये निरन्तर भाता हूं, अर्थात् मनन करता हूं।

जो भव्य जीव इस लोकमें परमात्मतत्त्वकी भावनामें अपने आत्माको परिणमन करता है वह भव भवके दुःखोंसे दूर होकर सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करता है। कैसा है वह परमात्मतत्त्व, जो आदि अन्तरहित, पापमुक्त, निर्द्वन्द्व, अक्षय, अत्यंत विशाल और ज्ञानवान है।

भावार्थ—सर्व भावोंको मेटकर एक शुद्धस्वभावकी भावना ही कार्यकारी है।

फिर भी जीवका स्वरूप कहते हैं —

णिग्गंथो णीरागो, णिस्सल्लो सयलदोसणिम्मुक्को।
णिक्कामो णिक्कोहो, णिम्माणो णिम्मदो अप्पा ॥ ४४ ॥

सामान्य अर्थ—वह शुद्ध जीवास्तिकाय निर्ग्रन्थ है, वीतराग है, निःशल्य है, सब दोष रहित है कामरहित, क्रोधरहित तथा मान और मदरहित है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें भी शुद्ध जीवका स्वरूप कहा है। वह आत्मा बाह्य और अभ्यन्तर २४ प्रकारके परिग्रह रहित है इससे निर्ग्रन्थ है, सम्पूर्ण मोह रागद्वेषमयी चेतनकर्मके अभावसे नीराग है। निदान, माया और मिथ्यात्व ऐसे

निःशल्य है, शुद्ध निश्चय करके शुद्ध जीवास्तिकायके द्रव्यकर्म और नोकर्म नहीं हैं इससे सर्व दोषोंसे रहित है।

शुद्ध निश्चयकरके अपने परम तत्त्वमें भी वांछाके न होनेसे निःकाम है। निश्चयकरके शुभ अशुभ सर्व परद्रव्यकी परिणतिके न होनेसे निःक्रोध है, क्योंकि परद्रव्यका सम्बन्ध ही क्रोधका कारण है। निश्चयकरके सदा परम समतारसमयी है इससे मानका अभावरूप निर्मान है। निश्चयकरके अपने आत्मभावमें पूर्णपने लीन होनेके कारण मदरहित निर्मद है।

इस प्रकार विशेष करके शुद्ध सहज सिद्ध अविनाशी निज कारण-समयसारका स्वरूप कहा है अर्थात् निज स्वरूपके मनन करनेसे समयसारता प्राप्त होती है इस कारण यही स्वरूप उपादेय अर्थात् ग्रहणयोग्य है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरिने कहा है —

सुचिर कालसे पर परणतिके हेतुसे तथा कर्ता कर्म आदि भेदकी भ्रांतिके नाश होनेसे जिसने शुद्धात्मतत्त्वको प्राप्त किया है तथा जो चेतन सत्य चित् मात्र प्रत्यक्ष ज्योतिमें मूर्छित है उसकी स्वाभाविक उदयरूप महिमा सर्वदा मेरेको मुक्त करनेके लिये थिर रहे अर्थात् कायम रहे।

टीकाकार कहते हैं कि जिसने ज्ञान ज्योतिके द्वारा पाप-अन्धकारके समूहको नाश कर डाला है, जो नित्य आनन्द आदि अतुल महिमाका धारी है, जो सदा ही मुक्तिकरके रहित है, जो अपने स्वभावमें निश्चल रहनेके कारण अपने शुद्ध स्वभावका मूल है, जो भवभयको हरनेवाला मोक्षरूप लक्ष्मीका स्वामी है उसको मैं वन्दना करता हूं।

आगे कहते हैं कि कारण परमात्माके पुद्गलद्रव्य सम्बन्धी विकार नहीं है —

त्यागकर शुद्ध ज्ञान चेतनाके ही भाव सदा कर्तव्य हैं। ऐसाही एकत्व-सप्ततिमें कहा है —" आत्मा भिन्न है वैसे ही उसके साथ रही हुई नोकर्म देह भिन्न है तथा द्रव्यकर्म भिन्न है, कर्म और आत्माकी निकटतासे जो विकार होता है वह विकार भी शुद्ध आत्मासे भिन्न है। काल, क्षेत्र आदि जो कुछ परद्रव्य हैं सो सर्व मेरे आत्मस्वरूपसे भिन्न हैं। सर्व ही द्रव्य अपने अपने गुण कलासे शोभित रहकरके भिन्न भिन्न ही रहते हैं।"

टीकाकार कहते हैं कि " आत्माके साथ बंध होवे व न होवे शुद्ध जीवके स्वरूपसे सदा ही मूर्तीक द्रव्योंका विचित्र जाल भिन्न है पृथक् है। यह श्रीजिनेन्द्रका शुद्ध वचन है। आचार्यने भी ऐसाही कहा है। यही इस सूत्रमें प्रगट भी है। हेतू भव्य नित्य यथा हो सम्य।"

भावार्थ—सब परद्रव्यजनित विकारोंका अपने शुद्ध स्वरूपसे अलग अनुभव कर, परमात्मस्वभावके मनन करनेका अभ्यास करना योग्य है।

आगे संसारी और मुक्तजीवोंकी समानता बताते हैं —

जारिसिया सिद्धप्पा, भवमल्लिय जीव तारिसा होंति ।
जरमरणजम्ममुक्का, अट्ठगुणालंकिया जेण ॥ ४७ ॥

सामान्य अर्थ—जैसे सिद्ध आत्मा हैं वैसे ही संसारमें लीन जीव हैं। कैसे हैं सिद्ध, जरा मरण और जन्मसे रहित हैं तथा अष्टगुणसे शोभायमान हैं।

विशेष अर्थ —शुद्ध द्रव्यार्थिक नयके अभिप्रायसे संसारी और मुक्तजीवोंमें कोई अत्यन्त निकट भव्यजीव हैं वे प्रथम संसार अवस्थामें संसारके क्लेशोंसे सचेत हुए और फिर स्वभावसे ही वैराग्यमें लीन हुए तथा द्रव्यलिंग धार भावलिंगी मुनि होके

त्र होने परमगुरुके प्रसादसे परमागमका अभ्यास किया और ध्यानके बलसे कर्मोंको नाशकर सिद्धक्षेत्रको प्राप्त किया और बाधारहित सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान, केवल दर्शन, केवल सुख, केवल वीर्यसे युक्त होकर सिद्धात्मा अर्थात् कार्यसमयसार-रूप होगए अर्थात् कार्य शुद्ध भए।

शुद्ध परमात्मा ध्यान अवस्थामें कारण समयसार है वही ध्यानके बलसे सब प्रकट हो जाता है। यह सिद्ध जैसे शुद्ध हैं वैसे ही शुद्ध निश्चयनयकरके भव्यजीव भी शुद्ध हैं।

जसे सिद्ध ज म जरा मरणकरके रहित हैं और सम्यग्दर्शन, अनंत ज्ञान अनंत दर्शन, अनंत वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरुलघु अव्याबाध ऐसे आठ गुणसे सहित हैं ऐसे ही शुद्ध निश्चय करके ये भव्यजीव भी हैं, शुद्ध निश्चयनय पदार्थोंके यथार्थ स्वरूपको प्रतिपादन करनेवाली है। इसलिये इसकी अपेक्षासे मोक्ष प्राप्त और मुक्त होने योग्य संसारी भव्यात्माओंके मध्यमें कोई अंतर नहीं है।

भावार्थ-ज्ञानीको निज स्वरूपहीको शुद्ध सिद्ध सदृश ध्यान करना योग्य है। टीकाकार कहते हैं कि "जिन सिद्ध और संसारी भव्यजीवोंमें पूर्वदासे शुद्धता विद्यमान है तब हम किस नयसे उनके भेदको जाने।"

भावार्थ—शुद्ध निश्चयनयसे दोनोंका स्वरूप एक है, यद्यपि व्यवहारनयसे भेद है।

फिर भी अभेदभावको दिखाते हैं —

असरीरा अविणासा, अणिंदिया णिम्मला विसुद्धप्पा।
जह लोयग्गे सिद्धा, तह जीवा ससिदी णेया ॥ ४८ ॥

सामान्य अर्थ—जैसे श्रीसिद्ध महाराज शरीररहित अविनाशी,

निर्मल, विशुद्ध स्वरूपवान होकर इस लोकके अग्रभागमें विराजमान हैं वैसे ही इस संसारमें सर्व जीवोंको निश्चयकरके जानना चाहिये ।

विशेष अर्थ—इस गाथामें कार्य समयसार और कारण समयसारके भेदके अभावको दिखलाया है । निश्चयकरके जैसे सिद्ध भगवान औदारिक आदि पांच शरीरोंसे रहित अशरीर हैं, नर नारक आदि पर्यायके त्याग और ग्रहणके अभावसे अविनाशी हैं, एक समयमें भी परम-आत्मोत्कर्षके स्थिरभूत ऐसे स्वाभाविक दर्शन आदि तथा कारणमई शुद्ध स्वरूपके जाननेमें समर्थ ऐसी स्वाभाविक ज्ञान ज्योतिकरके सब संशयोंको हटा देनेसे अतीन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रियोंसे अवलम्बन रहित हैं ।

मल अर्थात् अतीचार उनको उत्पन्न करनेवाले क्षयोपशम आदि विभावस्वभावोंके अभावसे निर्मल हैं, तथा द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादिक और भावकर्म रागद्वेषादिक इनके अभावसे विशुद्धात्मा हैं, ऐसे सिद्ध भगवान परमेष्ठी लोकके अग्रभाग तनुवातवलयमें विराजमान हैं । वैसे ही इस संसारमें शुद्ध निश्चयसे समस्त संसारी जीव शुद्धरूप अवस्थामें शोभायमान हैं ।

भावार्थ—जबतक यह जीव वस्तुके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहचानता तबतक वस्तुकी प्राप्ति नहीं कर सकता । इसलिये स्वहित वांछक जीवको शुद्ध निश्चयसे सदा ही अपने शुद्धरूपका मनन करना चाहिये । टीकाकार कहते हैं कि "जो जीव नित्य शुद्ध अशुद्ध विकल्पोंमें तल्लीन है उस निश्चयदृष्टिके लिये यह कहा है कि कारण और कार्य दोनों ही सदा शुद्ध हैं । अर्थात् जिसके ध्यान करनेसे स्वरूपशुद्धिरूप साध्यकी सिद्धि करता है वह साधन भी शुद्ध परमात्माका भाव है तथा उसका साध्य भी शुद्ध परमात्मा है क्योंकि उपादान कारणके सदृश ही कार्य होता है तथा जो कोई सार और असारके विचार करनेमें सुन्दर ऐसी

अपनी बुद्धिकरके इस अतुल अनुपम परमागमके अर्थको समझता है वही सम्यग्दृष्टी है। हम उसको वन्दना करते हैं—

आगे दोनों नयोंकी सफलता कहते हैं—

एद सव्वे भावा, ववहारणय पडुच्च भणिदा हु।
सव्वे सिद्धसहावा, सुद्धणया संसदी जीवा ॥ ४९ ॥

सामान्य अर्थ—ये सब ही भाव व्यवहार नयसे कहे गए हैं। शुद्ध निश्चयसे इस संसारके अन्दरके सब ही जीव सिद्ध भगवानके समान शुद्ध हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें निश्चय नय और व्यवहार नयकी उपयोगिता बतलाते हैं। जो पूर्व गाथामें वर्णन किया है व सब भाव शुद्ध नयसे संसारी जीवोंके नहीं हैं परन्तु वे ही सर्व विभाव भाव और विभाव पर्याय व्यवहार नयसे जीवोंके विद्यमान हैं। परन्तु शुद्ध नयके द्वारा ऐसा कहा जायगा कि जो औदयिक आदि चार भाव संसार अवस्थामें जीवोंके हैं वे ही भाव इन संसारी जीवोंके नहीं हैं। वे संसारी जीव भी भगवान सिद्धोंके शुद्ध गुण और पर्यायों समान शुद्ध गुण और पर्यायधारी हैं।

ऐसा ही श्री अमृतचंद्र आचार्यने कहा है—चलनेवाले जीवोंके लिये यह व्यवहारनय हस्तावलम्बन रूप है अर्थात् हाथसे सहारा दिये जानेके समान है तथा सम्पूर्ण पर पदार्थोंसे रहित चेतनके चमत्कार मात्र अपने उत्कृष्ट पदार्थको अपने अंतरंगमें देखनेवालोंके लिये यह व्यवहार नय कोई चीज नहीं है।

टीकाकार कहते हैं 'निश्चयकरके शुद्ध तत्त्वके रसिक लोग तत्त्व विचारके भीतर ऐसा कहते हैं कि शुद्ध निश्चय नयकरके मुक्त और संसारी जीवोंमें कोई भी विशेष अर्थात् भेद नहीं है।

पुव्वुत्तसयलभावा, परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं, अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥ ५० ॥

सामान्य अर्थ—पहले कहे गए सम्पूर्ण ही भाव परद्रव्य हैं और पर स्वभाव हैं, इस कारण त्यागने योग्य हैं तथा अंतरंग तत्व जो अपना द्रव्य आत्मा सो उपादेय है।

विशेषार्थ—इस गाथामें हेय उपादेयका कथन है। जो कोई विभाव गुण और पर्याय पहले कहीं हैं जो व्यवहारसे उपादेय हैं परन्तु शुद्ध निश्चय नयके बलसे सर्व हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं। क्योंकि वे परस्वभाव हैं, अतएव पर द्रव्य हैं आत्माका स्वद्रव्य नहीं हैं। तथा सब विभाव गुण और पर्यायोंसे रहित जो शुद्ध अंतरंग तत्व स्वरूप जो अपना आत्म द्रव्य है सो ही ग्रहण करने योग्य है। क्योंकि यह आत्मा निश्चयसे स्वाभाविक घरमें वीतराग सुखमई शुद्ध अंतरंग तत्व रचनाका आधार है। और यही स्वाभाविक परम पारिणामिक भाव है लक्षण जिसका ऐसा कारण समयसार है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरिने कहा है—निर्मल भावमें चलनेवाले मोक्ष चाहनेवाले पुरुषोंको इसी सिद्धांतकी सेवा भक्ति करनी चाहिये कि मैं सदा शुद्ध चैतन्यरूप एक परमज्योति स्वरूप हूं। तथा जो ये नाना प्रकारके भाव दिखलाई पड़ते हैं वे मुझसे भिन्न लक्षणके धारी हैं। न मैं उन रूप हूं और न वे मेरे स्वरूप हैं क्योंकि वे सब ही पर द्रव्य हैं।

टीकाकार कहते हैं कि—

"जो तत्ववेदी प्रगटरूपसे ऐसा कहता है कि मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूं तथा अन्य सब भाव पुद्गल द्रव्यके भाव हैं वही अपूर्व सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करता है।"

आगे रत्नत्रयका स्वरूप कहते हैं—

विपरीयाभिणिवेसवि, वज्जियसद्दहणमेव सम्मत्त।
ससयविमोहविब्भमवि, वज्जिय होदी सण्णाण ॥ ५१ ॥
चलमलिणमगाढत्त, विवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्त।
अधिगमभावे णाण, हेयोपादेयतच्चाण ॥ ५२ ॥
सम्मत्तस्स णिमित्त, जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा।
अतरहेयो भणिदा, दसणमोहस्स खयपहुदी ॥ ५३ ॥
सम्मत सण्णाण, विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरण।
ववहारणिच्छएण दु, तह्मा चरण पवक्खामि ॥ ५४ ॥
ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स,होदी तवचरण।
णिच्छयणयचारित्ते, तवयरण होदी णिच्छयदो ॥ ५५ ॥

सामान्य अर्थ—उल्टे अभिप्रायसे रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक्त है। जो संशय, विमोह, विभ्रमसे रहित है वही सम्यग्ज्ञान है। चल, मलिन, अगाढ़ दोषोंसे रहित जो श्रद्धान हैं वही सम्यक्त है। हेय त्यागने योग्य तथा उपादेय ग्रहण करने योग्य तत्वोंका जानना जो ज्ञान है।

सम्यक्तका निमित्त जिन सूत्र है अर्थात् जैन शास्त्रोंके द्वारा जो भाव ज्ञान होता है वही सम्यक्त होनेका निमित्त है। जिन सूत्रके ज्ञायक पुरुषोंको सम्यक्त होनेमें अंतरंग कारण दर्शन-मोहनीका क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम है। सम्यक्त और सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यग्चारित्र जो मोक्षका कारण है इसलिये व्यवहार निश्चयरूप चारित्रको आगे कहूंगा। व्यवहारनयसे व्यवहार चारित्र और तप होता है। निश्चयनयसे निश्चय चारित्र और तप होता है।

विशेषार्थ—इन गाथाओंमें रत्नत्रयके स्वरूपका कथन है।

पुव्वुत्तसयलभावा, परदव्वं परसहावमिदि हेयं।
सगदव्वमुवादेयं, अंतरतच्चं हवे अप्पा ॥ ५० ॥

सामान्य अर्थ—पहले कहे गए सम्पूर्ण ही भाव परद्रव्य हैं और पर स्वभाव हैं, इस कारण त्यागने योग्य हैं तथा अंतरंग तत्व जो अपना द्रव्य आत्मा सो उपादेय है।

विशेषार्थ—इस गाथामें हेय उपादेयका कथन है। जो कोई विभाव गुण और पर्याय पहले कही हैं सो व्यवहारसे उपादेय हैं परन्तु शुद्ध निश्चय नयके बलसे सर्व हेय अर्थात् त्यागने योग्य हैं। क्योंकि वे परस्वभाव हैं, अतएव पर द्रव्य हैं, आत्माका स्वद्रव्य नहीं हैं। तथा सब विभाव गुण और पर्यायोंसे रहित जो शुद्ध अंतरंग तत्व स्वरूप जो अपना आत्म द्रव्य है सो ही ग्रहण करने योग्य है। क्योंकि यह आत्मा निश्चयसे स्वाभाविक धर्मोंमें वीतराग सुखमई शुद्ध अंतरंग तत्व स्वभावका आधार है। और यही स्वाभाविक परम पारिणामिक भाव है लक्षण जिसका ऐसा कारण समयसार है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरिने कहा है—निर्मल भावमें चलनेवाले मोक्ष चाहनेवाले पुरुषोंको इसी सिद्धान्तकी सेवा भक्ति करनी चाहिये कि मैं सदा शुद्ध चैतन्यरूप एक परमज्योति स्वरूप हूं। तथा जो ये नाना प्रकारके भाव दिखलाई पड़ते हैं वे मुझसे भिन्न लक्षणके धारी हैं। न मैं उन रूप हूं और न वे मेरे स्वरूप हैं क्योंकि वे सर्व ही पर द्रव्य हैं।

टीकाकार कहते हैं कि—

"जो तत्ववेदी प्रगटरूपसे ऐसा कहता है कि मैं शुद्ध जीवास्तिकाय हूं तथा अन्य सब भाव पुद्गल द्रव्यके भाव हैं वही अपूर्व सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करता है।"

आगे रत्नत्रयका स्वरूप कहते हैं—

विविरीयाभिणिवेसवि, वज्जियसद्दहणमेव सम्मत्त ।
समयनिमोहविब्भमवि, वज्जिय होदी सण्णाण ॥ ५१ ॥
चलमलिणमगाढत्त, विवज्जियसद्दहणमेव सम्मत्त ।
अधिगमभावे णाण, हेयोपादेयतच्चाण ॥ ५२ ॥
सम्मत्तस्स णिमित्त, जिणसुत्त तस्स जाणया पुरिसा ।
अतरहेऊ भणिदा, दसणमोहस्स खयपहुदी ॥ ५३ ॥
सम्मत्त सण्णाण, विज्जदि मोक्खस्स होदि सुण चरण ।
ववहारणिच्छएण दु, तम्हा चरण पवक्खामि ॥ ५४ ॥
ववहारणयचरित्ते, ववहारणयस्स, होदी तवचरण ।
णिच्छयणयचारित्ते, तवचरण होदी णिच्छयदो ॥ ५५ ॥

सामान्य अर्थ—उलटे अभिप्रायसे रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक्त है । जो संशय, विमोह, विभ्रमसे रहित है वही सम्यग्ज्ञान है । चल, मलिन, अगाढ़ भावोंसे रहित जो श्रद्धान है वही सम्यक्त है । हेय त्यागने योग्य तथा उपादेय ग्रहण करने योग्य तत्वोंका जानना सो ज्ञान है ।

सम्यक्तका निमित्त जिन सूत्र है अर्थात् जैन शास्त्रोंके द्वारा जो भाव ज्ञान होता है वही सम्यक्त होनेका निमित्त है । जिन सूत्रके ज्ञायक पुरुषोंको सम्यक्त होनेमें अतरंग कारण दर्शन-मोहनीका क्षय, क्षयोपशम तथा उपशम है । सम्यक्त और सम्यग्ज्ञानके साथ सम्यक्चारित्र भी मोक्षका कारण है इसलिये व्यवहार निश्चयरूप चारित्रको आगे कहूंगा । व्यवहारनयसे व्यवहार चारित्र और तप होता है । निश्चयनयसे निश्चय चारित्र और तप होता है ।

विशेषार्थ—इन गाथाओंमें रत्नत्रयका स्वरूपका वर्णन है ।

भेदोपचाररूप व्यवहार रत्नत्रयमें प्रथम व्यवहार सम्यग्दर्शन विपरित अभिप्राय रहित जीवादि सात तत्वोंका श्रद्धान रूप है।

कैसा है यह श्रद्धान, जो श्रद्धान मोक्षके परम्परा कारण भगवत श्री अरहंत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और साधु इन पांच परमेष्ठीकी निश्चल दृढ़ भक्ति सहित है। कैसी है दृढ़भक्ति, जिसमें चल, मल, अगाढ़ ये तीन दोष नहीं हैं-इस श्रद्धानमें पंचपरमेष्ठीसे विपरीत हरिहरादिक द्वारा प्ररूपण किये पदार्थोंमें श्रद्धाका अभाव है अर्थात् अन्य एकान्त मतोंके तत्वोंको एकान्त रूप अर्थात् अनेकान्त मूलार्थ पदार्थोंसे उलटा जो श्रद्धान करना तथा मोक्षमें कारणभूत पदार्थोंको यथा यथार्थ श्रद्धान करना सो सम्यक्त है।

व्यवहार सम्यग्ज्ञान भी संशय, विमोह विभ्रमसे रहित है। देव जिनेन्द्र होने चाहिये या शिव होने चाहिये ऐसा जो शंकारूप ज्ञान सो संशय है। शाक्य आदिके कहे हुये पदार्थोंमें श्रद्धा होनी सो विमोह है। कुछ भी निश्चय करनेकी आकांक्षाका न होना सो विभ्रम है।

इन दोषोंसे रहित सम्यग्ज्ञान आदरणीय है। यहां जिनेन्द्र प्रणीत जो हेय और उपादेय तत्व हैं उनका यथार्थ ज्ञान सो ही सम्यग्ज्ञान है।

इस सम्यक्त परिणामका बाह्य सहकारी कारण वीतरागी सर्वज्ञके मुखकमलसे निकला समस्त पदार्थोंके बतलानेको समर्थ द्रव्यश्रुत रूप [illegible] तत्वज्ञान है। क्योंकि उपचारसे पदार्थोंके निर्णयका कारण है। सम्यग्दर्शनके होनेमें अन्तरंग कारण दर्शन मोहनी कर्मका क्षय, उपशम अथवा क्षयोपशम है। तथा भेदरहित और उपचाररहित निश्चय रत्नत्रयमें जो जीव परिणमन कर रहा है

उस जीवके टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावमें अपने आत्मीक तत्वकी जो श्रद्धा सो निश्चय सम्यक्त है।

उसी आत्मीक तत्वके ज्ञानरूप अंतरंगमें जो परम बोध है सो ही निश्चय सम्यग्ज्ञान है। उस ही अपने आत्मस्वरूपमें जो निश्चय स्थितिरूप है सो निश्चय स्वाभाविक चारित्र है—इन तीन अभेद रत्नत्रयके द्वारा ही जो अबतक प्राप्त नहीं हुई ऐसी अभूतपूर्व सिद्ध पर्याय प्रगट होती है।

जो परम जिन जिनेन्द्री योगीश्वर मुनि प्रथम ही पापक्रिया औस हटानेवाले व्यवहारनयसे जाननेयोग्य ऐसे व्यवहार चारित्रमें ठहरते हैं अर्थात् व्यवहारचारित्रका आचरण करते हैं। ऐसे ही योगीके व्यवहारनयसे जानने योग्य व्यवहाररूप तपश्चरण भी होता है पश्चात् निश्चय रत्नत्रयकी प्राप्तिके अवसरमें निश्चय तप होता है।

सहज निश्चयनयके आश्रित परम स्वभावमई परमात्मामें प्रतपन अर्थात् तपना अर्थात् दृढ़तासे तन्मय होना सो निश्चय तप है। इस तपके द्वारा ही अपने आत्माके स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप स्वाभाविक निश्चय चारित्र भी होता है ऐसा ही "एकत्वसप्तति" में कहा है—

अपन आत्मस्वरूपमें निश्चय सो ही सम्यग्दर्शन है, अपने आत्मस्वरूपका ज्ञान सो ही सम्यग्ज्ञान है, अपने स्वरूपमें स्थिति अर्थात् ठहरना ही सम्यक्चारित्र है। यही तीनोंको योगरूप अवस्था मोक्षपदको कारण है।

टीकाकार कहते हैं—यह ही एक सहज आत्मज्ञानकी। सम्यग्दृष्टि भी इसी आत्मज्ञानरूप ही है, तथा निर्मल चारित्र भी नित्य इसी आत्माके ज्ञानमें क्रियारूप है। यह चैत य आत्माकी

चेतना समस्त प्रकारके मूलसमूहसे रहित मूर्तिवती और स्वाभाविक आत्मीक तत्त्वमें स्थितिरूप है।

भावार्थ—शुद्धस्वरूपको शुद्ध चेतना परद्रव्य, परगुण और पर पर्यायोंसे रहित है तथा निजरूपमें निश्चलता स्वरूप है। इसी शुद्ध चेतनाका निश्चय श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र निश्चय तीन रत्नत्रय स्वरूप मोक्षका परमबीज है। मोक्षार्थी भव्य जीवको उचित है कि अपने आत्माको परम शुद्ध ज्ञाता दृष्टा निरञ्जन निर्विकार अटूट अविनाशी सम्पूर्ण पर औपाधिक भावोंसे रहित अनुभव करे। यह शुद्ध भावका अधिकार आत्माकी शुद्धिका परम अद्भुत निमित्त कारण है।

इस प्रकार सुकवियों रूप कमलोंके लिए सूर्य पंचेन्द्रियके व्यापारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्री "पद्मप्रभमलधारि देव" द्वारा कथित श्री नियमसारकी तात्पर्य वृत्ति नाम व्याख्यामें "शुद्धभावाधिकार" नामका तृतीय श्रुतस्कंध समाप्त हुआ ॥ ३ ॥



व्यवहार चारित्राधिकार

कुलजोणिजीवमग्गण,–ठाणाइसु जाणऊण जीवाण ।
तस्सारंभणियत्तण,–परिणामो होइ पढमवद ॥ ५६ ॥

सामान्य अर्थ—कुलस्थान योनिस्थान, जीवसमासस्थान, मार्गणास्थान इत्यादि जीवोंके ठिकानोंका ज्ञान करके उनमें आरंभ करनेसे हटनेका जो परिणाम है वही प्रथम अहिंसाव्रत है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें अहिंसा व्रतके स्वरूपका कथन है। कुल योनि आदिस्थानोंको पूर्व कह चुके हैं। इनके भेदोंको भले प्रकार जानकर जीवोंकी रक्षा करनेका जो भाव सो अहिंसा है। जीवोंकी मृत्यु होती है व नहीं होती है इसके विचारकी कोशिशमें लगे हुए परिणामके किये बिना प्रमादरूप हिंसामई क्रियाका त्याग नहीं हो सकता। अतएव इस रक्षाके प्रयत्नमें रहना ही अहिंसा व्रत है।

ऐसा ही श्री समन्तभद्राचार्यजीने कहा है अर्थात् श्रीसमन्तभद्र स्वामी अपने बृहत् स्वयंभूस्तोत्रमें श्रीमुनिसुव्रतनाथ स्वामीकी स्तुति करते हुए कहते हैं कि आपने यह बात सर्वको प्रगट है कि यह अहिंसा ही परमब्रह्म स्वरूप है अर्थात् आत्माकी वीतरागता ही अहिंसा है। जहां ऐसी वीतरागता है वहीं आत्माका शुद्ध स्वरूप है।

जिस आश्रमके चारित्रमें अणुमात्र अर्थात् किंचित् भी आरंभ नहीं है वहीं यह अहिंसा प्राप्त होती है। भावार्थ—मुनियोंका २८ मूलगुणरूप व १३ प्रकार चारित्ररूप जो आचरण है वही अहिंसा है। इसलिये परमदयावान हे प्रभु! आपने-इसी अहिंसाकी सिद्धिके लिये अंतरंग और बाह्य २४ प्रकारके परिग्रह त्याग किया।

आप विकारी भेष और परिग्रहमें रत नहीं हो। भावार्थ-नग्न दिगम्बररूप ही यथा अहिंसा मार्गका वेष है। इसके सिवाय अन्य वेष विकारवान होते हैं। जहाँ परिग्रहमें सर्वथा मूर्छाका अभाव है वहीं अहिंसा धर्म है।

टीकाकार कहते हैं-इस जिनधर्मकी जय हो जिसमें ऐसी अहिंसाका पालन है, जो अहिंसा त्रस और स्थावर जीवोंके घात करनेवाले परिणामोंको जड़ मूलसे हटानेका कारण है तथा जो पचकायरूप पदके स्थावर जीवोंके नाना प्रकार होनेवाले कष्टसे बिलकुल दूर है-जो अहिंसा सम्पूर्ण लोकके जीव समूहको सुख देनेवाली है तथा जो सुन्दर सुखसे भरपूर समुद्रके समान अगाध है।

आगे द्वितीय सत्यव्रतको कहते हैं—

रागेण व दोसेण व, मोहेण व मोसभासपरिणाम।
जो पजहदि साहु सया, बिदियवयं होइ तस्सेव ॥ ५७ ॥

सामान्य अर्थ—जो साधु सज्जन पुरुष रागसे, द्वेषसे व मोहसे झूठ बोलनेके परिणामको सदा छोड़ता है उस ही दूसरा सत्य व्रत होता है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें सत्य व्रतके स्वरूपका वर्णन है— मृषा अर्थात् असत्य बोलनेका जो परिणाम अर्थात् भाव है सो भाव सत्य भावसे उल्टा है विरोधी है। यह असत्य भाव राग भावसे द्वेष भावसे अथवा मोह भावके निमित्तसे जीवके पैदा होता है—अर्थात् यह मनुष्य इष्ट पदार्थोंमें व विषयोंमें रागकरके उनकी प्राप्ति व रक्षाके लिये असत्य कहता है व अनिष्ट पदार्थोंमें व विषयोंमें द्वेष करके उनके दूर होनेके लिये व उनका नाश व न पानेके लिये असत्य कहता है अथवा मिथ्याबुद्धिसे संसारमें मोहके कारण उस मिथ्या भावकी रक्षाके अर्थ असत्य बोलता है।

जो कोई निकट भव्य जीव साधु पुरुष इसप्रकारके असत्य बोलनरूप परिणामको त्यागता है उसीके ही यह सत्यव्रत होता है। टीकाकार कहते हैं-जो कोई अतिशयकरके सत्य भावको अंतरंगमें धरता हुआ धर्मपने सत्य ही बोलता है वह मनुष्य परलोकमें स्वर्गकी स्त्रियोंके घने भोगोंको भोगनेवाला होता है और इस लोकमें सदा सर्व सज्जनोंके द्वारा पूजनीय अर्थात् आदरणीय होता है। इसलिये इस सत्यसे बढ़कर दूसरा कोई व्रत नहीं है यह बात सर्वथा सत्य है।

आगे तीसरे व्रतको कहते हैं —

गामे वा णयरे वा, रण्णे वा पेच्छिऊण परमत्थं।
जो मुंचदि गहणभावं, तिदियवदं होदि तस्सेव ॥ ५८ ॥

सामान्यार्थ- जो कोई ग्राममें, नगरमें वा जंगलमें दूसरेकी वस्तुको पड़ी देखकर उसके उठा लेनेके परिणामको त्याग देता है उसीके निश्चय ही यह तीसरा अचौर्य व्रत होता है।

विशेषार्थ— इस गाथामें तीसरे अचौर्य व्रतका कथन है। वृक्ष आदिकी बाड़ोंसे जो बेढ़ा हो उसको ग्राम कहते हैं। चार दिशाओंके चार दरवाजोंसे जो शोभायमान हो उसका नाम नगर है।

जहां मनुष्योंका गमनागमन नहीं हो तथा वृक्षोंके गुच्छोंकरके परिपूर्ण हो उसका नाम अरण्य अर्थात् वन है। ऐसे ग्राम वा नगर वा वनमें दूसरेके द्वारा रक्खी हुई, पड़ी हुई, वा भूली हुई परद्रव्यको देखकर उसको स्वीकार करनेके भावको जो त्यागता है उसके ही यह तीसरा अचौर्यव्रत होता है।

जो वस्तु अपने परिश्रमसे किसीका कुछ काम करके मिले व दूसरा स मान व दयाकरके देवे वह वस्तु ग्राह्य है-इसके सिवाय

कहींकी कोई चीजको भी लेना चोरी है। सूनसान स्थानमें मिली हुई वस्तुओंपर उसहीका अधिकार है जिसकी वह भूमि है।

टीकाकार कहते हैं कि यह अचौर्य व्रत अपूर्व फलका दाता है। इसके पालनेवालोंको पुण्यके मदसम अतिशयरूप रत्नोंका ढेर प्राप्त हो जाता है। स्वर्गरूप स्त्रीके सुखका मूलभूत यह व्रत है और क्रम क्रम करके मुक्तिरूपी स्त्रीका संगम करानेवाला है॥

आगे चौथे व्रतको कहते हैं —

दट्ठूण इत्थिरूवं, वांछाभावं णिवत्तदे तासु।
मेहुणसण्णविवज्जिय,-परिणामो अहव तुरीयवदं ॥ ५९ ॥

सामान्यार्थ—जो स्त्रीके रूपको देखकर उसके भीतर अपनी इच्छा होनेरूप भावको हटाता है तथा मैथुन संज्ञासे रहित अपने परिणामोंको करता है उसीके ही यह चौथा व्रत मैथुन संज्ञात्याग ब्रह्मचर्य व्रत होता है॥

विशेषार्थ—इस गाथामें ब्रह्मचर्य व्रतका स्वरूप है। सुंदर स्त्रियोंके मनोहर अंगोंको देखनेके कारण जो उनसे क्रीड़ा करनेकी चित्तमें इच्छाका होना उसको त्याग करनेसे अथवा वेद नाम नोकषायके तीव्र उदयसे मैथुन सेवनकी इच्छाका होना उसको छोड़नेसे यह ब्रह्मचर्य व्रत होता है।

टीकाकार कहते हैं कि हे कामी पुरुष! तू क्यों सहज परम तत्त्वरूप जो अपना स्वरूप है उसको छोड़कर सुंदर स्त्रियोंके शरीर आदि विभूतिको मनमें याद करता है और किस कारणसे तू मनमें अत्यंत मोहको प्राप्त होता है? ऐसा करनेसे मेरा वचन अर्थात् उपदेश तेरे लिये किस कामका होगा?

आगे पंचम व्रतको कहते हैं—

सव्वेसिं गंथाणं, चागो णिरवेक्खभावणापुव्वं ।
पंचमवदमिदि भणिदं, चारित्तभरं वहंतस्स ॥ ६० ॥

सामान्यार्थ—जो वाञ्छा रहित भावनाके साथ सर्व ही परिग्रहोंको त्यागना है सो चारित्रके भारको धरा वहनेवाले साधुओंका पंचम व्रत है।

विशेषार्थ—इस गाथामें परिग्रहत्याग व्रतका स्वरूप है। जो सम्पूर्ण अंतरंग और बाह्य परिग्रहसे रहित हैं तथा निश्चय ऐसे कारणरूप परमात्माके शुद्ध स्वभावमें स्थित हैं ऐसे परम संयमी परम जिन योगीश्वर जो हैं तथा जो सदा ही निश्चय व्यवहाररूप पंचम चारित्रके भारको वहनेवाले हैं उनके अंतरंग और बाह्य २४ प्रकारके परिग्रहका त्याग करना ही पंचम व्रत है। कैसा है यह परिग्रह त्याग व्रत, यही परंपरा-करके पंचम गति जो मोक्ष तिसका कारण है॥

ऐसा ही श्री समयसारजीमें कहा है। "कि ज्ञानी ऐसा जानते हैं जो मेरे परद्रव्य परिग्रह होय तो मैं भी अजीवपनेको प्राप्त हो जाऊँ क्योंकि मैं तो ज्ञाता ही हूं। इससे मेरे परिग्रह नहीं है।"

टीकाकार कहते हैं—भव्य जीवको उचित है कि संसारसे भय करके परिग्रहरूपी विपद जो आपत्ति उसको त्यागे और उपमारहित सुखके स्थानकी प्राप्तिके लिये अपने आत्मामें स्थितिको करें। ऐसी स्थिति करै, जो स्थिति चलायमान न हो, सुखकी स्थान हो और अज्ञानी जनोंको दुर्लभ हो अर्थात् आत्म स्वभावमें लीन होना सुलभ नहीं किन्तु कठिन है तथापि साधु पुरुषोंके लिये ऐसी स्थितिको प्राप्त करना कोई बड़े आश्चर्यकी बात नहीं है किन्तु जो साधु विवेकी नहीं हैं ऐसे असन्त पुरुषोंके लिये ही अद्भुतपना-आश्चर्य है।

अब समितिको कहे हैं—

पासुगमग्गेण दिवा, अवलोगंतो जुगप्पमाणं हि।
गच्छइ पुरदो समणो इरिया समिदी हवे तस्स ॥ ६१ ॥

सामान्यार्थ—जो साधु प्रासुक मार्गसे दिनमें एक जुग प्रमाण आगे पृथ्वीको देखता हुआ गमन करता है उस साधुके ईर्या समिति होती है।

विशेषार्थ—इस गाथामें ईर्या समितिका स्वरूप कहते हैं—जो कोई परम संयमका धारी मुनि अपने गुरुके पास जानेके अर्थ व तीर्थयात्रा आदि शुभ अभिप्रायको मनमें धारकर एक जुग अर्थात् चार हाथ प्रमाण आगे मार्गको देखता हुआ दिनके विषैं जीवजंतु रहित व दूसरोंके द्वारा रौंदे हुये ऐसे प्रासुक मार्गमें स्थावर त्रस प्राणियोंकी रक्षाके अर्थ जब गमन करता है तब उस परम श्रमण अर्थात् साधुके ईर्या समिति होती है।

इस प्रकार व्यवहार समितिका स्वरूप कहा। अब निश्चय समितिके स्वरूपको कहते हैं। अभेद उपचार रहित जो रत्नत्रयका मार्गरूप परम धर्मके द्वारा अपने आत्मस्वरूपमें सम् अर्थात् सम्यक् यानी भले प्रकारसे इता अर्थात् गमन तथा परिणमन सो समिति है। अथवा अपने आत्माके परम तत्वमें लीन स्वभाविक परम ज्ञान आदि परम धर्मोंकी एकता सो समिति है। इस प्रकार निश्चय व्यवहार समितिके भेदोंको जानकर उस परम निश्चय समितिको प्राप्त करके बारम्बार करनी योग्य है।

टीकाकार कहते हैं कि इस प्रकार मुक्तिरूपी स्त्रीकी सखी जो परम समिति है उसको जानकरके जो कोई संसारके भयको पैदा करनेवाले सुवर्ण स्त्री आदिक परिग्रहको त्यागता है तथा

अपूर्व स्वभावसे ही शोभायमान चैतन्यके चमत्कार मात्र स्वरूपमें जो तिष्ठता है सो ही अभेदरूप भावमें एकताको सम्यक् प्रकार प्राप्त करता है और सदा परस्वरूपसे अलग ही रहता है। यह ईर्या समिति जयवन्त होहु। कैसी है यह समिति, मुनीश्वरोंका मूल गुण है। त्रस जीवोंके तथा स्थावर जीवोंके घातसे दूर है, संसाररूप अग्निकी तपतसे पैदा होनेवाले क्लेशोंको शांत करनेके लिये मेघमाला है, सब समितियोंमें मुख्य है तथा अनेक प्रकारसे संतोषको देनेवाली है।

इस महात्मा समुद्रमें जो समिति पालनसे विरक्त हैं तथा कामरूपी रोगसे आतुर हैं उनको निश्चयकरके यह संसार ही है अर्थात् वे संसार हीमें भ्रमण करनेवाले हैं। इसलिये हे मुनिश्वान! तू तुम्बक बिना सुन्दर मुक्तिरूपी स्त्रीके ध्यानको अपने मनरूपी घरमें धारण कर अर्थात् मुक्ति अवस्थाहीका मनन कर। जो कोई सम अर्थात् शांतमई समितिको पालता है वही मुक्ति प्राप्त करके मोक्षरूप होता है। जो समितिका नाश करते हैं वे मोक्षको नहीं पाते तथा संसाररूपी महासमुद्रमें भ्रमण करते हैं।

आगे भाषा समितिको कहते हैं—

पेसुण्णहासकक्कस,-परणिंदप्पप्पसंसियं वयणं।
परिचित्ता सपरहिदं, भासासमिदी वदंतस्स ॥ ६२ ॥

सामान्य अर्थ—दुष्टताके हास्यक, कठोर, तथा परको निंदा तथा आत्मप्रशंसाके वचनोंको त्यागकर जो अपने और दूसरेको हितरूप वचन कहते हैं उसे मुनिके भाषा समिति होती है।

विशेष अर्थ—इस गाथामें भाषासमितिका

एक पुरुष, एक कुटुम्ब या एक ग्रामके साथ महान् द्वेषके कारण कहे गए जो वचन हैं सो पैशून्य हैं। कहीं कभी किसीके विकारी रूप व कार्यको देखकरके या सुनकरके हास्य नाम नोकषायसे पैदा हुए कुछ शुभसे मिले हुए होनेपर भी अशुभ कर्मबंधके कारण पुरुषके मुखको विकारी करनेवाले जो वचन हैं सो हास्य कर्म वचन हैं–अर्थात् अपने अंतरंगमें कुछ शुभ भाव होनेपर किसी मनुष्यके विपरीत व हास्यजनक कार्य या स्वरूपकी ऐसी हँसी प्रगट करना जिससे अपना मुख भी विकारी हो जाय और सुननेवालोंका मुख भी विकारी हो जाय सो वचन हास्य कर्मके वचन हैं।

कानके छिद्रके भीतर प्रवेश करते ही जो वचन सुननेवालोंको अप्रीति अर्थात् अशांति पैदा करें सुहावें नहीं सो कर्कश वचन हैं। दूसरोंके सच्चे झूठे दोषोंको प्रगट करनेवाले वचनोंको कहना सो पर निंदा है। अपने होते न होते गुणोंकी स्तुति करना सो आत्म प्रशंसा है।

ये सर्व प्रकारके वचन अप्रशस्त अर्थात् अशुभ हैं ऐसे वचनोंको छोड़कर अपनेको और परको कल्याणकारी शुभ भावके कारण जो वचन कहना सो भाषा समिति है।

ऐसा ही श्री गुणभद्रस्वामीजीने कहा है कि जो सर्व प्राणियोंको क्षमा करनेवाले हों, सब पापोंसे दूर हों अपने आत्महितमें अपने चित्तको धारण करनेवाले हों, सर्वमें शांतिको फैलानेवाले हों, स्वपरको हितकारी ऐसे वचनोंको कहनेवाले हों, सर्व रागद्वेष संकल्पसे रहित हों, ऐसे वीतरागी मुनि मोक्ष पानेके पात्र क्यों न होंगे अर्थात् अवश्य होंगे।

टीकाकार कहते हैं–जो महान् पुरुष परमब्रह्म स्वरूप चारित्रमें लीन हैं उनको अपने अंतरंगमें भी जल्प करना अर्थात् वचन बोलना इष्ट नहीं है तो फिर बाह्य वचनोंकी प्रवृत्तिसे क्या प्रयोजन ?॥

भावार्थ—मुनि निरंतर अपने आत्मस्वभावमें ही सन्मुख होकर वचन रहित हो मौनव्रत धारते हैं वही साधक भी है, अन्य स्वपर हितकारी वचन भी निश्चय नयकरके उपादेय नहीं हैं।

आगे तीसरी समितिको कहते हैं—

कदकारिदाणुमोदण, रहिदं तह पासुगं पसत्थं च।
दिण्णं परेण भत्तं, समभुत्ती एसणा समिदी ॥ ६३ ॥

सामान्य अर्थ—जो कृत, कारित अनुमोदना इनसे रहित प्रासुक, शुद्ध और श्रावक द्वारा भक्तिसे दिये हुए आहारको समभावसे भोजन करें ऐसे मुनिके एषणा समिति होती है।

विशेषार्थ—मन वचन काय द्वारा करना मन वचन काय द्वारा कराना मन वचन काय द्वारा सराहना करना ऐसे नौ विकल्पों करके रहित जो अन्न है सो नौकोटि शुद्ध कहा जाता है अर्थात् जिसमें मुनि कुछ भी अपना संकल्प न करें।

अति प्रशस्त भोजनसे प्रयोजन यह है कि जो मनको हरनेवाला रोगादि अथवा व किसी आकुलता पैदा न करे। इतना प्रासुक अचित्तरूप सूक्ष्म प्राणियोंके संचारसे रहित जो प्रासुक है अर्थात् जिसमें सचित्तपना व जीवसहित आहार न हो।

मुनिको पड़िगाह करना "आहार पानी शुद्ध अत्र तिष्ठ तिष्ठ तिष्ठ" तथा कहकर पड़गाहना, ऊँचे स्थानपर स्थित करना, चरण धोना, पूजन करना, प्रणाम करना मन वचन और कायको शुद्ध रखना तथा भिक्षा अर्थात् आहारकी शुद्धता ऐसे नऊ प्रकार भक्तिकरके सहित जो श्रावक है तथा जिस श्रावकमें श्रद्धा, शक्ति, लोभका अभाव, भक्ति, ज्ञान दया, क्षमा ऐसे सात दाताके गुण विराजमान हों ऐसे योग्य ज्ञानवानादि श्रावक श्रावकसे प्राप्त

दिया हुआ जो भोजन उसको जो परम तपोधन अर्थात् मुनि ग्रहण करते हैं उनके एषणा समिति होती है। यह व्यवहार एषणा समितिको कहा।

निश्चय करके शुद्ध जीवके इस समितिका प्रसंग नहीं है क्योंकि हमारे जीवोंके छः प्रकारका भोजन व्यवहार नयकरके ही होता है। जैसा कि श्री समयसारजीमें कहा है—

कि आहार छः प्रकारके हैं नोकर्माहार जैसे केवलीके, कर्म आहार जैसे नारकियोंके, लेप आहार जैसे वृक्षोंके, कवल आहार जैसे सामान्य मनुष्योंके, ओजाहार जैसे अंडोंके, मानसिक आहार जैसे देवोंके।

श्री गुणभद्राचार्यजीने कहा है कि—जो मुनि यम और नियममें लीन हैं, जिनका आत्मा अंतरंग और बाह्य शांत है, जो समाधिमें परिणमन कर रहे हैं, जो सर्व प्राणीमात्रपर दया करनेवाले हैं, जिन्होंने अपना हित किया है, जो मर्यादारूप आहार करनेवाले हैं, जो निद्राको हटानेवाले हैं तथा जो आध्यात्मिक तत्त्वके निश्चय करनेवाले हैं ऐसे ही मुनि सब मूलसे क्लेशोंके समूहको जला देते हैं।

टीकाकार कहते हैं—जो भक्त श्रावकद्वारा हाथके अग्रभागमें प्रदान किये हुये आहारको ग्रहण करके पूर्ण ज्ञानसे प्रकाशमान ऐसे आत्माका ध्यान करते हैं तथा जो तत्त्वसे ही सम्यक् तपको तपनेवाले हैं वे ही तपस्वी हैं तथा वे ही सुन्दर मुक्तिरूपी स्त्रीको प्राप्त करते हैं।

आगे चौथी समितिको कहते हैं—

पोथइकमंडलाई, गहणविसग्गेसु पयत्तपरिणामो ।
आदावणणिक्खेवण,-समिदी होदित्ति णिद्दिट्ठा ॥ ६४ ॥

भावार्थ—पुस्तक कमंडल पीछी आदिक स्थान धरनेमें

जो यत्न करनेरूप परिणाम सो आदाननिक्षेपण समिति है ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—इस गाथामें अपहृत संयमियोंके द्वारा संयमका उपकरण पीछी कमंडल तथा ज्ञानका उपकरण शास्त्र आदिकोंके उठाते धरते समय जो समिति करी जाती है उस समितिका वर्णन है। उपेक्षा संयमधारी मुनियोंके पुस्तक कमंडल आदि नहीं होते हैं वे उपेक्षा संयमधारी मुनि परम जितेन्द्री एकांतवासी बिलकुल बेचाह होते हैं सिर्फ आत्मध्यानमें लीन रहते हैं इस लिये उनको बाहरी शास्त्रादि उपकरणोंकी जरूरत नहीं होती।

ऐसे संयमी साधु बाहर उपकरण जो आपसे भिन्न परम सार उसके ही प्रकाश करनेमें चतुर होते हैं उनके सब उपाधि रहित स्वरूप स्वाभाविक आत्मज्ञानके सिवाय और कोई भी ग्रहण योग्य नहीं होती। परन्तु अपहृत संयमी मुनियोंके लिये परमागम जो शास्त्र उसके अर्थको बार बार ज्ञान करानेका कारण ऐसी जो पुस्तक तथा शौच करनेका कारण तथा शरीरकी विशुद्धताका कारण जो कमंडल तथा संयम अर्थात् प्राणी रक्षाका कारण जो पीछी सो होती हैं।

इनके उठाने धरनेमें भी समय पीछाकाके निमित्तसे पैदा होनेवाला जो यत्न जिसमें कमजोर था आत्माके परिणामोंकी विशुद्धता सो [redacted] आदाननिक्षेपण समिति कही गई है।

टीकाकार—कहते हैं कि उत्तम परम जिन मुनियोंके सर्व समितियोंके अंदर यही बड़ी समिति शोभायमान है जिससे उनको सर्व प्राणिमात्र पर क्षमा और मैत्रीभाव होता है। हे भव्य जीव! तू भी अपने मनरूपी कमलमें इस
जिससे तू मुक्ति लोकका स्वामी हो।

भावार्थ—सर्व जीवोंपर क्षमा और सर्वका हित चिंतन यही इस समितिके पालनेका अभिप्राय है।

आगे पांचमी समितिको कहते हैं—

पासुगभूमिपदेसे, गूढे रहिए परोपरोहेण।
उच्चारादिच्चागो, पइट्ठा समिदी हवे तस्स ॥ ६५ ॥

सामान्य अर्थ—जो मुनि जीवजंतु रहित प्रासुक जमीनमें जो गूढ हो, व दूसरा रोकने योग्य न हो ऐसे स्थानमें मलमूत्रादिका त्याग करते हैं, उनहीके यह पांचमी प्रतिष्ठापना समिति होती है।

विशेषार्थ—इस गाथामें मुनीश्वरोंके लिए शरीरका मलादि त्याग करनेके लिए जो स्थानकी शुद्धता चाहिये उसका वर्णन है। शुद्ध निश्चय करके जीवके देह ही नहीं है, देहके अभावसे मलादिका होना भी नहीं है।

व्यवहारनयसे आत्माके देह है उस देहके होतेसंते आहार ग्रहण होता है। आहार लेनेसे यथा समय मुनियोंके मलमूत्रादि होते ही हैं इसलिये संयमियोंकेलिये मलमूत्र क्षेपनका स्थान जीवरहित तथा दूसरोंके द्वारा रोके जानेके अयोग्य होना चाहिये। ऐसे स्थानमें शरीरका मलमूत्र करके पीछे उस स्थानसे कुछ दूर हटकर जाकर उत्तरमुख कायोत्सर्ग खड़े होकर समस्त कायकी क्रियाओंको त्यागकर संसारका कारण ऐसा जो परिभ्रमण तिसको करानेवाले ऐसे संसारके निमित्त देहादिको तथा अपने आत्माको धीर होकर ध्याते हैं तथा जो परमसंयमी इस शरीरका अपवित्रपना भी बारबार विचार करते हैं उन मुनियोंके निश्चय करके यह प्रतिष्ठापना समिति होती है अन्य यतीनामधारी स्वेच्छा लिंगधारीयोंके कोई भी समिति नहीं होती है।

टीकाकार कहते हैं—यह समिति इस लोकमें मुनीश्वरोंके लिये मोक्षरूपी राज्यका मूल कारण है। कैसे हैं मुनि, जो जैनमतमें चतुर हैं और अपने आत्माकी चिन्तामें तत्पर हैं। परन्तु जिन मुनियोंका चित्त महान् अपने व्यवहारकी बातमें आसक्त हो चपल हो रहा है।

भावार्थ—जो विषय सुख तथ सहसके समान है जो सब बातकी बातमें लिपटा हो, उस सुखके लोलुपी जो मुनि हैं उनके यह समिति नहीं होती है।

जो अतीन्द्रिय सुखके अभिलाषी हैं उनहीके समिति होती है। हे मुनिप्रधान! भले प्रकार इस समितिको जाने। कैसी है समिति जो मुक्तिरूपी स्त्रीकी प्यारी है, भवभवका मदरूपी अन्धकार उसको नाश करनेके लिये चन्द्रमाकी प्रभाके समान है, तथा तेरी सम्यक् जो मुनिपदकी दीक्षा उसके लिये सुन्दर सखी है। प्रसन्नचित्त हो अब इसका ऐसा अभ्यास करो जो तुमको जिन धर्मके रूपसे सिद्ध होनेवाला अविनाशी ही कोई ऐसे फलकी प्राप्ति हो। निश्चयकारक मुनि इस समितिकी संगतिसे शीघ्र ही किसी उत्तम फलको प्राप्त करते हैं जो फल मनसे चिन्तवनयोग्य तथा वचनसे कहनेयोग्य नहीं है तथा जो केवल सुखमई अमृतरूप है।

भावार्थ—समितिके पालते हुए मुनि शिव-सुखको पा सकते हैं। आगे मन गुप्तिको कहते हैं —

कालुस्समोहसण्णा रागद्दोसाइ असुहभावाणं।
परिहारो मणुगुत्ती, ववहारणयेण परिकहियं ॥ ६६ ॥

सामान्यार्थ—कलुषता, मोह, अभिलाषा, राग, द्वेष आदि अशुभ भावोंका जो त्याग करना उसे ही व्यवहारनयसे मनो-गुप्ति कहते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें व्यवहार मनोगुप्तिके स्वभावका वर्णन है। क्रोध, मान, लोभ इन चार कषायोंसे क्षोभित आकुलित भया जो चित्त उसको कालुष्य कहते हैं। मोह दो भेदरूप है एक दर्शन मोहनी, दूसरा चारित्र मोहनी। संज्ञाके चार भेद हैं—आहार भय, मैथुन और परिग्रह हैं। राग दो प्रकारका है—एक अशुभ दूसरा शुभ। जिन मनुष्योंका सम्बन्ध अपनेको न सुहावे अथवा जो वस्तु अपने मनको नहीं रुचैं उन सबसे बैरभाई परिणाम सो द्वेष है। इत्यादि सब अशुभ परिणामोंके कारणोंको त्यागना ही व्यवहारनय करके मनगुप्ति है।

टीकाकार कहते हैं—जो अपने मनको सदा परमात्मके अर्थको चिंतामें तल्लीन रखते हैं, जो जितेन्द्रिय हैं, जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह करके रहित हैं तथा जो श्रीमान् जिनेन्द्रके चरणोंके स्मरणमें दत्तचित्त हैं उनहीके यह मनगुप्ति होती है ॥६६॥

आगे वचन गुप्तिको कहते हैं—

थीराजचोरभत्तक,-हादीवयणस्स पावहेउस्स ।
परिहारो वचगुत्ती, अलियादिणियत्तिवयणं वा ॥ ६७ ॥

भावार्थ—पाप बंधकी कारण स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, तथा भोजनकथा इन ४ विकथारूप वचनोंका जो त्याग करना सो वचनगुप्ति है इसीको अलीकनिवृत्ति वचन भी कहते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें वचनगुप्तिका स्वरूप है। अति वृद्ध पुरुषोंके न काबूमें पुरुषोंके मुख द्वारा जो स्त्रियोंके संयोग तथा वियोगसे पैदा हुई अनेक प्रकारकी वचन रचना रूप कथा तिनका किया जाना तथा तिनका सुना जाना सो ही स्त्रीकथा है।

राजाओंके युद्धके कारणोंका जो उपन्यास सो राजकथाप्रपंच है। चोरोंका चोरी करनेकी रीतियोंका जो कथन सो चोरकथा

विधान है। अत्यन्त बढ़ी हुई भोजनकी प्रीति करके नानाप्रकार भोजनके समूह खाद्य दही, दूध आदि भोजन पानकी प्रशंसा करनी सो भुक्तकथा है। इन चारों ही प्रकारकी कथाओंका जो त्याग है सो सो वचन गुप्ति है। इसीको अलीक वचनसे निवृत्ति भी कहते हैं। और भी अन्य सम्पूर्ण अशुभ वचनोंका त्यागना सो वचन गुप्ति है।

ऐसा ही भाव श्री पूज्यपाद स्वामीने भी कहा है—भावार्थ—इस प्रकार बाहरमें वचनकी प्रवृत्तिको त्याग कर अन्तरंगमें विशेषरूपसे अन्तर्जल्प अर्थात् भीतर २ ही वचन कहना उसको भी दूर करनेका योग अर्थात् ध्यान होता है यही ध्यान परमात्माको प्रदीप अर्थात् प्रकाश करनेवाला है।

टीकाकार कहते हैं—जो भव्य जीव संसारके भयको करनेवाली सर्व ही वचनकी रचनाको त्यागकर सहज विलासरूप चैतन्य सदा चमत्काररूप एक शुद्ध आत्माको ध्याता है वह जीव शीघ्र ही कर्म अन्धकारके समूहको अतिशय करके विध्वंस कर स्वभावकी महिमाका आनन्द ऐसा सुखकी खान मुक्तिको प्राप्त करता है।

अब कायगुप्तिको कहते हैं—

बंधणछेदणमारण, आकुञ्चण तह पसारणादीया।
कायकिरियाणियत्ता, णिदिट्ठा कायगुत्तिति॥ ६८॥

सामान्यार्थ—बंधन, छेदन, मारन, संकोचन विस्तारन आदि शरीरकी क्रियाओंको न करना सो कायगुप्ति कही गई है।

विशेषार्थ—किसीका बंधन होना इसमें अन्तरंग निमित्त कर्मका उदय तथा बाह्य कारण किसीके कायका व्यापार है। छेदनमें भी अन्तरंग कारण कर्मका उदय और बाह्य कारण प्रमादी कषाय सहित जीवके शरीरकी क्रिया है।

धारनका भी अवश्य कारण कर्मका क्षय; बाह्य कारण क्षय करनेवाले वज्र किसीके काय आदिकी चेष्टा है। सदोष विहार एक ही पर्य्यायमें समुद्घातकी अपेक्षा होता है जिसमें आत्माके प्रदेश आत्माको न त्यागकर कुछ देरके लिये फैल जाते हैं और फिर सकुड़ जाते हैं इत्यादि बंधनादिरूप जो कायकी क्रिया उनसे अलग रहना सो कायगुप्ति है। टीकाकार कहते हैं– जो मुनि कायके विकारोंको त्यागकर बारबार शुद्धात्माकी भावना करता है उसीका ही जन्म मैं इस संसारमें सफल समझता हूं।

अब निश्चय नयसे मनोगुप्तिका स्वरूप कहते हैं —

जा रायादिणियत्ती, मणस्स जाणीहि तम्मणोगुत्ती ।
अलियादिणियत्ति वा, मोणं वा होइ वदिगुत्ति ॥ ६९ ॥

भावार्थ—जो मनसे रागादि भावोंका दूर करना सो मनगुप्ति है तथा असत्य आदि वचनका न कहना मौन रखना सो वाग्गुप्ति है।

विशेषार्थ—जो मुनि जब मोह रागद्वेषको दूर करके दोषरहित अद्वैत परचेत स्वरूपमें भले प्रकार स्थिर होता है उसीके ही निश्चय मनोगुप्ति होती है। हे शिष्य ! तुम जबतक इस स्थिरताके चलायमान न हो तबतक मनोगुप्ति जानो। सम्पूर्ण असत्य भाषाका त्यागना अथवा मौनव्रतका रखना ऐसा कि चेतना जिसमें नहीं ऐसे मूर्तिक द्रव्यमें व इंद्रियज्ञान अगोचर ऐसे अमूर्तिक द्रव्यमें व दोनोंमें वचनकी प्रवृत्ति न करना सो निश्चय वचन गुप्ति कही जाती है।

टीकाकार कहते हैं जो मुनि आत्मामें भले प्रकार लीन हो शुभ तथा अशुभ मन वचनकी क्रियाको त्यागता है, तथा शुद्ध वा अशुद्ध नय विकल्पोंसे रहित पापरहित चैतन्यमात्र

चिन्तामणि रत्नको प्राप्त करता है सो मुनि वाग्रूपी वनोंके लिए अग्नि समान हो योगियोंमें शिरोमणि होता हुआ अनन्त चतुष्टयका धामरूप पदमें स्थित रह सदा ही जीव मुक्ति अवस्थाका भोगी होता है।

अब निश्चय कायगुप्तिको कहते हैं—

कायकिरियाणियत्ती, काउस्सग्गो सरीरगे गुत्ती ।
हिंसाइणियत्ती वा, सरीरगुत्तित्ति णिद्दिट्ठा ॥ ७० ॥

सामान्यार्थ—कायकी सम्पूर्ण क्रियाओंको त्यागना, कायसे ममत्वभावको छोड़ना सो शरीर गुप्ति है अथवा सर्व हिंसासे दूर रहना सो काय गुप्ति है ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—सब ही मनुष्योंके शरीरोंमें बहुतसी क्रियायें हुआ करती हैं, उन सर्व क्रियाओंको छोड़कर कायोत्सर्ग करना सो काय गुप्ति है। तथा पंच प्रकार स्थावर जीव और सब त्रस जीवोंकी हिंसा न करनी सो काय गुप्ति है। तथा परम संयमके धारी परम जिन योगीश्वर जब अपने आत्माके चैतन्यमई शरीरसे इस शरीरका भेदज्ञान करते हैं तब उनके अंतरंगमें अपने आत्माकी उत्कृष्ट मूर्तिका निश्चयका होना सो कायगुप्ति है।

ऐसा ही श्री तत्त्वानुशासनमें कहा है कि शरीरकी सम्पूर्ण चेष्टाओंको तथा संसारके कारण राग द्वेषादि भावोंको छोड़कर स्थिर हो अपने आत्मस्वरूपमें लीन हो जाना सो कायोत्सर्ग कहा जाता है।

टीकाकार कहते हैं—आत्मा अशरीरस्वरूप हलन चलन क्रिया रहित है। व्यवहारसे यह हलन चलन मेरे आत्मामें होता है इसलिये मैं शरीरकी विकाररूप क्रियाओंका त्याग करता हूं।

अब श्री अर्हत परमेष्ठीका स्वरूप कहते हैं—

घणघाइकम्मरहिया, केवलणाणाइपरमगुणसहिया ।
चोत्तिसअदिसयजुत्ता, अरिहंता एरिसा होंति ॥ ७१ ॥

सामान्यार्थ—जो सम्पूर्ण घातिया कर्मोंसे रहित हैं केवलज्ञानादि परम गुणके धारी हैं चौंतीस अतिशय विराजमान हैं सो ही अर्हत कहलाते हैं।

विशेषार्थ—आत्माके गुणोंको घातनेवाले कर्मोंको घातिया कहते हैं। घनरूप अर्थात् आत्मामें जो एकमें एक हो रहे हैं ऐसे जो ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी, अन्तराय और मोहनी इनसे जो अर्हंत परमेष्ठी रहित हैं। इन घातिया कर्मोंके नाशसे समस्त लोकको आनन्दका कारण अथवा निर्मल ऐसा केवलज्ञान, केवलदर्शन केवल वीर्य और केवल सुख इन चार चतुष्टय करके जो अर्हंत भगवान युक्त हैं तथा आगममें प्रसिद्ध ३४ अतिशयके जो धारी हैं वे ही भगवान अर्हंत होते हैं।

टीकाकार कहते हैं—व सुसीमाजीके पुत्र श्रीपद्मप्रभु जयवंत हो जिनका शरीर परमौदारिक है जिसमें पद्मराग प्रसिद्ध है, जिनके नेत्र प्रफुल्लित कमलके समान हैं जो पुण्यसमूहरूप तीर्थंकर नामके धारी हैं जो पद्म ज्ञानरूपी कमलोंको प्रफुल्ल करनेके लिये सूर्यके समान हैं जो मुनिजनरूपी वनोंकी शोभाको बढ़ानेके लिये चैत्र मास अर्थात् बसन्तकाल हैं, जो कर्मरूपी सेनाके नाश करनेको शत्रु हैं तथा जिनका चारित्र सर्व प्राणियोंका हित करनेवाला है।

जो कामदेवरूपी हाथीके नाशके लिये सिंहके समान हैं, जो पुण्यरूपी कमलके खिलानेको सूर्य हैं, जो सम्पूर्ण गुणोंके समान हैं, जो सबको इच्छित सुखदाता कल्पवृक्ष हैं। जो दुष्ट

कर्मोंके बोझको उठानेवाले हैं, जो समारके पदार्थोंको छोड़ चुके हैं, तथा जिनके चरणोंको इन्द्र नमस्कार करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र देव जयवन्त होहु।

जिन्होंने कामदेवके धनुषको जीत लिया है, जो वर्ण दिया और सरस्वती हैं, जिनको परिवर्जित सुखरूप है, जो पाप समूहके लिये यमराजके समान हैं जिन्होंने मलके भारको नाश कर दिया है जिनके परमहंसोमयुक्त पदोंको राजाधिराज नमन करते हैं, जिन्होंने क्रोधको जीत लिया है तथा विद्वानोंके समूह जिनको नमस्कार करते हैं ऐसे श्रीजिनेन्द्र जयवन्त होहु।

यहां पर टीकाकारने परमपूज्य अर्हन्त भगवानकी एक स्तुति मनोहर श्लोकोंमें लिखी है। कहे हुए प्रथम श्लोकमें सब समास के तीन अन्तमें 'त्र' अक्षर आया है, दूसरे श्लोकमें "न" अक्षर व तीसरेमें 'द' अक्षर आया है।

अब चौथे श्लोकका अर्थ कहते हैं-जिसके समास पदोंके अन्तमें 'स्र' अक्षर आया है-अर्थात् जिन्होंने मोहको नष्ट किया है, जिनके नत्र पद्म कमलके समान विस्तार युक्त हैं जिन्होंने पापकी सेनाको जीत लिया है कामदेवको पक्षको रहित किया है, जिनके युगल चरणोंको यक्ष नमन करते हैं, जो तत्त्वविद्यामें दक्ष अर्थात् चतुर हैं जिन्होंने बुद्धिमान अन्य जीवोंको शिक्षा प्रदान की है, तथा जिन्होंने निर्वाणका कारण मुनि दीक्षाका स्वरूप कहा है ऐसे श्री जिनेन्द्र प्रभू जयवन्त होहु।

आगेके श्लोकके पदोंके अन्तमें 'श' अक्षर है—जो कामदेव घातने दूर और सबके ईश हैं, जिनका शरीरका प्रदेश कांतिमान शोभायमान है, जिनके चरणोंको यमीश अर्थात् मुनियोंके ईश नमस्कार करते हैं, जिन्होंने यमराजको पाशको अदृश्य किया है जो पा[illegible]

सुयश सब दिशाओंमें फैला हुआ है जो जगतके ईश हैं, ऐसे मनोहर श्री पद्मप्रभु स्वामी जयवंत होहु।

आगे श्री सिद्धभगवानका स्वरूप कहते हैं—

णट्ठट्ठकम्मबंधा, अट्ठमहागुणसमण्णिया परमा।
लोयग्गठिदा णिच्चा, सिद्धा ते एरिसा होंति ॥ ७२ ॥

सामान्यार्थ—जिन्होंने अष्टकर्मोंके बन्धनोंको नाश कर दिया है, जो आठ महागुणोंकर सहित परम अर्थात् बड़े हैं, जो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं जो नित्य अर्थात् अविनाशी हैं वे सिद्ध होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें मोक्ष प्राप्त करनेके परम्परा कारणभूत ऐसे जो भगवान सिद्ध परमेष्ठी हैं उनके स्वरूपको कहते हैं॥ सम्पूर्णपने अन्तरंगके सन्मुख होकर ध्यान और ध्येयके विकल्पोंसे दूरवर्ती ऐसा जो परम शुद्ध शुक्ल ध्यान उसके बलसे जिन्होंने ज्ञानावरणी आदि आठ प्रकार कर्मबन्धोंको नष्ट कर दिया है तथा जो क्षायक सम्यक्त आदि आठ गुणोंसे पुष्ट और तुष्ट अर्थात् सन्तोषित हैं तथा जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र ऐसे तीनों तत्वोंके विशेष गुणोंकी प्रगटतारूप होनेसे परम हैं, अर्थात् तीनों तत्वोंकी जहां पूर्णता है, तथा जो व्यवहारसे तीन लोकके शिखरके आगे गमनका कारण धर्मद्रव्य न होनेसे लोकके अग्रभागमें तनुवातवलयमें विराजमान हैं तथा जो अपनी इस अमूर्त पूर्वपर्यायसे कभी अन्य पर्यायरूप न होंगे अर्थात् सिद्धपर्याय स्वागोंगे इस कारण नित्य हैं ऐसे श्री सिद्धपरमेष्ठी होते हैं।

टीकाकार कहते हैं—कि ज्ञानके पुंज ऐसे जो श्री सिद्ध भगवान् हैं सो व्यवहारनयकरके तीन भुवनके शिखरके अग्रभागके चूड़ामणि हैं परन्तु निश्चय करके श्री सिद्धदेव स्वाभाविक परम

चैतन्य चिन्मात्र स्वरूप अनन्त अविनाशी शुद्ध निजरूपमें ही विराजमान हैं।

जिन्होंने सर्व दोषोंको नाश कर दिया है, जो दुःखसे मुक्त होकर तीन भवनके शिखरपर विराजित हैं, जो सिद्ध अवस्थामें उपमारहित प्रत्यक्ष ज्ञान दर्शन शक्तिसे युक्त हैं, जिन्होंने अष्टकर्म प्रकृतिके समुदायोंको नष्ट कर दिया है और अष्ट महागुणोंको सिद्ध किया है, जो अंत रहित, अन्य बाधा रहित हैं जो तीन भवनके शिरोमणि और सिद्धिरूपी स्त्रीके स्वामी हैं ऐसे नित्य शुद्ध सर्व सिद्धोंको मैं नमस्कार करता हूं।

जो अपने आत्म स्वरूपमें स्थित हैं, शरीरहीन हैं जिन्होंने आठ गुणकी सम्पदाको प्राप्त किया है और आठ कर्मके समूहको नष्ट किया है ऐसे सिद्ध महाराजोंको मैं बार बार नमस्कार करता हूं।

आगे श्री आचार्यके स्वरूपको कहते हैं—

पंचाचारसमग्गा, पंचिंदियदंतिदप्पणिद्दलणा।
धीरा गुणगंभीरा, आयरिया एरिसा होन्ति ॥ ७३ ॥

सामान्यार्थ—जो दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य पांचों आचारोंसे परिपूर्ण हैं, जो पंचेन्द्रियरूपी हाथियोंके मद दलन करनेवाले हैं, जो धीर और गुणोंमें गंभीर हैं वे आचार्य होते हैं।

विशेषार्थ—जो ज्ञानादि पांचों आचारोंमें परिपूर्ण हैं, स्पर्शन रसन घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांचों इंद्रियरूपी मदांध हस्तियोंका मद दलनेमें दक्ष हैं, तथा जो सम्पूर्ण घोर उपसर्गोंका विजय करके धीरता गुणके कारण गंभीर हैं। लक्षणोंहीसे आनन्दमय श्री भगवान आचार्य जी हैं।

ऐसा ही श्री "[illegible]" कहा है—कि

आचारमें लीन हैं, अकिंचन अर्थात् निर्ग्रंथताके जो स्वामी हैं, कषाय चोरोंके स्थानोंको जिन्होंने नष्ट किया है, प्रगट ज्ञानके बलसे परमतेजको जिन्होंने प्राप्त किया है, जो पंचास्तिकायके स्वरूप ज्ञानमें तल्लीन हैं, जो प्रगट स्थिर योगाभ्यासमें प्रवीण बुद्धिशाली हैं, जो गुणोंकरके वृद्ध रूप हैं ऐसे श्री आचार्य महाराजोंकी हम भक्तिरूपी क्रियाके अभिलाषी अपने संसार संबंधी दुःखसमूहको काटनेके लिए पूजन करते हैं।

टीकाकार कहते हैं—जिन 'श्रीचन्द्रकीर्ति' मुनिका मन संपूर्ण इन्द्रियोंके प्रसंगोंके आलम्बनसे रहित है, जो आकुलता रहित अपने आत्मकल्याणमें तन्मय है, जो शुद्ध है और निर्वाणका कारण और शुक्लध्यानका कारण है जो ममता और इन्द्रियदमन वाला मंदिर है, जो मैत्री, दया और दम अर्थात् जितेन्द्रियताका घर है, जो उपमारहित है ऐसा मनशुद्धका मन मेरे वन्दनीक है।

आगे श्री उपाध्याय महाराजका स्वरूप कहते हैं—

रयणत्तयसंजुत्ता, जिणकहियपयत्थदेसया सूरा ।
णिक्कंखभावसहिया, उवज्झाया एरिसा होंति ॥ ७४ ॥

सामान्यार्थ—जो रत्नत्रयसे युक्त हैं, जिनेन्द्र भगवान कथित पदार्थोंके उपदेशक हैं जो इच्छारहित ऐसे भावसहित हैं ऐसे उपाध्याय कहे जाते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथामें अध्यापकस्वरूप परम गुरुओंके स्वरूपका वर्णन है। जो निश्चल शंका रहित अद्वैत परम चैतन्य रूपका श्रद्धान ज्ञान और आचरणसे शुद्धनिश्चय स्वभाव रत्नत्रयके धारी हैं, जो जिनेन्द्रके मुखारविन्दसे प्रगट हुए जीवादि समस्त तत्त्वोंको अर्थ सहित व्याख्यान करनेवाले हैं, जो सम्पूर्ण परित्याग है लक्षण जिसका तथा कर्माञ्जन रहित ऐसा जो

निज परमात्मतत्त्व उसकी भावनासे पैदा होनेवाले परम वीतराग सुखरूपी अमृतके पीनेमें अनुरागी हैं इसलिए इच्छा रहित परम भावनाके स्वामी हैं। ऐसे लक्षणोंकरके पहचानने योग्य जैनियोंके उपाध्याय महाराज होते हैं।

टीकाकार कहते हैं—मैं रत्नत्रयमई, शुद्ध, भव्य कमलोंके लिये सूर्य एसे उपदेश दाता उपाध्यायोंको नित्य बार-बार वन्दना करता हूं।

आगे निरन्तर अखंडित परमतपश्चरणमें लीन ऐसे सर्वसाधुके स्वरूपको कहते हैं—

वावारविप्पमुक्का, चउव्विहाराहणासयारत्ता ।
णिग्गंथा णिम्मोहा, साहू दे एरिसा होन्ति ॥

सामान्यार्थ—जो सर्व व्यापारसे रहित हैं, चार प्रकार आराधनामें सदा लवलीन हैं, जो निर्ग्रन्थ और मोह रहित हैं वे साधु होते हैं।

निर्विकल्प स्त्री उसका सुंदर केशोंका जूड़ा उसकी शोभा तथा उसके सर्वांग कमरका रूप पुञ्ज उससे शोभायमान नानाप्रकार बर्फका अलङ्कार उसके आलम्बनमें कौतूहल बुद्धि है अर्थात् मुक्ति स्त्रीके प्रेमी हैं ऐसे तपसाधु होते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि साधुका मन भागी जीवोंके पसे गुणोंसे रहित है सर्व परिग्रहसे अलग वसे दूरवर्ती है इस लोगोंसे नमस्कार करनेयोग्य है। हे साधु! ऐसे मनको अपने आत्मामें शीघ्र झुकाओ।

आगे इस अधिकारको सकोचते हैं—

एरिसयभावणाए, ववहारणयस्स होदि चारित्तं।
णिच्छयणयस्स चरणं, एत्तो उड्ढं पवक्खामि ॥ ७६ ॥

सामान्यार्थ—इन ऊपर लिखित भावनाओंसे व्यवहारनयकी अपेक्षासे चारित्रका कथन किया है। निश्चयनय अपेक्षा चारित्रको आगे कहेंगे।

विशेषार्थ—इस प्रकार पहले कहे पांचमहाव्रत, पांचसमिति, निश्चय व्यवहार, तीन गुप्ति तथा पांच परमेष्ठीका स्वरूप-इनके द्वारा अत्यन्त शुभ भावनाकी प्राप्ति होती है यह सर्व व्यवहार-नयके अभिप्रायसे परम चारित्र होता है।

आगे कहनेयोग्य पांचवें अधिकारमें परम पंचम भाव जो पारिणामिक भाव उसमें लीन तथा जो पंचमगति अर्थात् मोक्ष उसका कारणरूप ऐसा शुद्ध निश्चयनयके आधीन जो परम चारित्र है उसका स्वरूप दिखलाएंगे।

ऐसा ही श्रीमोक्षमार्गप्रकाशमें कहा है कि जिस चारित्रके बिना सम्यग्दर्शन और ज्ञान ऊषरके भीतर पड़े हुए बीजके समान तथा मैंदस फलता नहीं है उस उनके चारित्रको मैं

नमन करता हूं। इस चारित्रकी स्तुति देव, असुर तथा मनुष्य सब करते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि मोक्षरूपी स्त्रीके अनग अर्थात् अतीन्द्रिय सुखका मूल यह परम निश्चय चारित्र है ऐसा आचार्यने कहा है तथा इस चारित्रका परम्परा साधन व्यवहार चारित्र भी है ऐसा वर्णन किया है।

इस प्रकार सुकविजनकमलोंके लिये सूर्य पंचेन्द्रियके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहधारी श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव रचित नियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नाम टीकामें व्यवहार चारित्रका अधिकार पूर्ण हुआ।

५—निश्चयप्रतिक्रमणाधिकार

आगे आचार्य टीकाकार श्री माघसेनाचार्यको नमस्कार करते हैं—जो संयम और ज्ञानकी मूर्ति हैं तथा विनयवान् जो शिष्यरूपी कमल वनके विकाश करनेके लिए सूर्य हैं तथा कामरूपी हाथीके कुम्भस्थल विदारनेको सिंहके समान हैं ऐसे श्रीमाघसेन मु आचार्य की शोभाको विस्तारते हैं।

आगे अब व्यवहार चारित्र और उसके फलका नाश उससे प्रतिपक्षी जो शुद्ध निश्चयनयस्वरूप परम चारित्र उसको प्रतिपादन करनेके अभिप्रायसे निश्चय प्रतिक्रमण अधिकारको आगे कहेंगे।

जिसमें प्रथम ही पञ्चरत्नका स्वरूप कहते हैं—

णाहं णारयभावो, तिरियच्छो मणुवदेवपज्जाओ।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७७ ॥
णाहं मग्गणठाणो, णाहं गुणठाण जीवठाणो ण।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७८ ॥
णाहं बालो वुड्ढो, ण चेव तरुणो ण कारण तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ७९ ॥
णाहं रागो दोसो, ण चेव मोहो ण कारण तेसिं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८० ॥
णाहं कोहो माणो, ण चेव माया ण होमि लोहो हं।
कत्ता ण हि कारइदा, अणुमंता णेव कत्तीणं ॥ ८१ ॥

सामान्य अर्थ—न मैं नारकभाव धारी हूं न मैं तिर्यंच। मनुष्य तथा देवपर्यायवाला नहीं हूं न मैं इनका कर्ता हूं, न हूं और करनेको अनुमोदना करनेवाला हूं।

न तो मैं मार्गणा स्थान हूं न गुणस्थानरूप हूं, न जीवसमास स्थानरूप हूं, न मैं इन भावोंका कर्ता हूं न करानेवाला हूं न मैं कर्ताओंको अनुमोदना करनेवाला हूं। न बालक हूं न बुड्ढा हूं न मैं जुवान हूं और न इन अवस्थाओंके होनेका हूं।

न मैं इनका कर्ता हूं न करानेवाला हूं और न मैं इनके करनेवालोंकी अनुमोदना करनेवाला हूं। न मैं रागरूप हूं न द्वेष रूप हूं न मोहरूप हूं और न इन भावोंका कारण हूं।

न मैं इनका कर्ता हूं न करानेवाला हूं और न अनुमोदना करनेवाला हूं। न मैं क्रोधरूप हूं न मानरूप हूं न माया रूप हूं और न कभी लोभ रूप होता हूं। न मैं इनका कर्ता हूं न करानेवाला हूं और न करनेकी अनुमोदना करनेवाला हूं।

विशेषार्थ—इन गाथाओंमें कहा है कि शुद्ध आत्माके सर्वं कर्तृत्व भावका अभाव है। बहु आरम्भ और बहु परिग्रहके अभावसे मैं कभी नारक पर्यायरूप नहीं होता हूं क्योंकि संसारी जीवके ही व्यवहारसे बहु आरम्भ और बहु परिग्रह होते हैं और इसी कारण उस संसारीके नारकादि दुर्गतिका कारण ऐसा पूर्ण मोह, राग तथा द्वेष होता है। मैं शुद्ध निश्चयके बलसे शुद्ध जीवास्तिकाय हूं।

मेरे नरक पर्यायके समान तिर्यंच पर्याय भी नहीं है और न मनुष्य पर्याय है और न मेरे देवपर्याय है क्योंकि देवपर्यायके योग्य सुन्दर रस गंध तथा शुभ रूप स्पर्श पुद्गल द्रव्य उनका सम्बन्ध मेरे साथ नहीं है।

इसी प्रकार १४ प्रकार मार्गणाके स्थान, १४ जीव समासके स्थान व १४ गुणस्थान ये कोई भी शुद्ध निश्चय करके मेरे नहीं हैं। कैसा हूं मैं, परम भाव जो शुद्ध पारिणामिक भाव उसको धारण करनेवाला हूं। मनुष्य तिर्यंचकी कायकी जातिमें असाताके निमित्तसे जो विकार पैदा होता है वही विकार शरीरका बालक,

वृद्ध, युवान शिथिल आदि अवस्थारूप होनेसे अनेक प्रकार हैं— सो इनमेंका कोई भी विकार शुद्ध निश्चयनयके अभिप्रायसे मेरे नहीं हैं।

सत्ता, ज्ञान, परमचैतन्यमयी सुखका अनुभव इनमें लीन जो उत्कृष्ट आत्मिक तत्व है उस तत्वको ग्रहण करनेवाले जो शुद्ध द्रव्यार्थिक नय उसके बलसे मेरे मोह, राग व द्वेष बिलकुल नहीं हैं। मैं स्वाभाविक निश्चयनयसे सदा निरावरण हूं, कर्मोंके आवरणसे अलग हूं। शुद्ध ज्ञान स्वरूप हूं, सहज चैतन्यमई शक्तिका धारी हूं।

सहज दर्शन गुणसे प्रकाशमान और परिपूर्ण मेरी मूर्ति है, अपने स्वरूपमें निश्चलतासे ठहरा हूं इस कारण स्वभावसे ही यथाख्यात चारित्रका धारी हूं। इसलिये मेरे सम्पूर्ण संसार भ्रमण की दुःखोंके कारण ऐसे क्रोध, मान माया लोभ नहीं हैं तथा न मैं इन नानाप्रकारके आकुलतामई विभाव पर्यायोंका निश्चयसे कर्ता हूं, न करानेवाला हूं और न पुद्गल कर्मोंके करनेवालोंका अनुमोदक हूं। न मैं नारक पर्यायका करता हूं मैं तो स्वाभाविक चैतन्यके विलासरूप आत्माको ही अनुभव करता हूं।

न मैं पशुपर्यायको करता हूं। मैं तो सहज चित्तके विलासरूप आत्माहीका स्वाद लेता हूं। न मैं मनुष्य पर्यायका करता हूं, मैं स्वाभाविक चैतन्यके विलासरूप जो आत्मा उस हीका अनुभव करता हूं। न मैं देव पर्यायको करता हूं मैं सहज चैतन्यके प्रकाशरूप आत्माका ही मनन करता हूं। न मैं मिथ्यादर्शन आदि गुणस्थानोंके भेदोंको करता हूं। मैं स्वाभाविक चैतन्यके विलासरूप आत्माका ही सचेतन करता हूं। न मैं एकेन्द्रिय आदिक जीव समासके भेदोंको करता हूं। मैं सहज चैतन्यके प्रकाशरूप आत्माहीका करता हूं। न मैं शरीर सम्बन्धी बाल वृद्ध आदि भेदको

करता हूं। मैं स्वाभाविक चैतन्यके विलासरूप आत्माका ही स्वाद लेता हूं। न मैं रागद्वेष आदि भावकर्म भेदोंको करता हूं। मैं सहज चैतन्यके प्रकाशरूप आत्माहीका मनन करता हूं। न मैं भावकर्मरूप क्रोधादि चार कषायोंको करता हूं। मैं स्वाभाविक चैतन्यके विलासरूप आत्माका ही अनुभव करता हूं। इस प्रकार पंचरत्न मई ५ गाथाओंमें संक्षिप्त सारांशमें यह कथन किया है कि सब विभावपर्यायोंको त्याग करनेकी भावना करना ही कार्यकारी है।

टीकाकार कहते हैं—जो भव्य जीव इन पांचरत्नमई पांच गाथाओंके द्वारा अपने विषयोंसे सब इंद्रिय विषयोंको हटाकर छुड़ाता है तथा अपने आत्मिक द्रव्यके शुद्धगुण पर्यायोंमें अपने उपयोगको लीन करता है वह आत्मा अपने आत्मिक भावसे भिन्न सब विभावोंको त्यागकर शीघ्र ही मुक्तिको प्राप्त करता है।

आगे कहते हैं कि भेद विज्ञानसे ही क्रमसे निश्चयचारित्र होता है—

एरिसभेदब्भासे, मज्झत्थो होदि तेण चारित्त ।
त दिढकरणणिमित्त, पडिकमणादी पवक्खामि ॥ ८२ ॥

सामान्यार्थ—ऊपर कहे प्रमाण भेदविज्ञानके भीतर जो अभ्यास करते हैं वे मध्यस्थ होते हैं—इसी भावके द्वारा चारित्रका लाभ होता है। इसी चारित्रको दृढ़ करनेके लिये प्रतिक्रमण आदिको कहूँगा ऐसी श्री कुंदकुंदाचार्य प्रतिज्ञा करते हैं।

विशेषार्थ—पहले कही हुई पंचरत्नमई पांच गाथाओंके द्वारा पदार्थका स्वरूप जाननेसे मोक्षका साधक ऐसे जीव और पुद्गलोंका भेद विज्ञान होता है, इस भेद विज्ञानका अभ्यास करते करते जो मुमुक्षु मोक्षके इच्छुक इस भेद विज्ञानके भावमें सदा स्थिर रहते हैं वे ही मध्यस्थ अर्थात् वीतराग हो जाते हैं।

इस कारणसे ही उन परम संयमी मुनियोंके

चारित्र होता है—इसी चारित्रमें निश्चयरूपसे स्थिति करनेका उपाय प्रतिक्रमण आदि नियमरूप क्रियाएं कही गई हैं। अतीत अर्थात् गतकालमें किये हुये दोषोंको छुड़ानेके लिए जो प्रायश्चित किया जाता है उसको प्रतिक्रमण कहते हैं। आदि शब्दसे प्रत्या ख्यान आदि भी ग्रहण करने। आगे इनहीका स्वरूप कहेंगे।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरीने कहा है कि निश्चय करके जो र सिद्ध हुये हैं व सब ही भेद विज्ञानकी महिमासे हुए हैं और जो जो संसारमें बंधे हुए हैं वे सब ही भेद विज्ञानके अभावसे ही बंधे हुए हैं।

टीकाकार कहते हैं—कि श्रीमुनिनाथके चित्तमें अतिशयकारी भेद ज्ञानका भाव होने पर स्वयं ही यह उपयोग मोहको छोड़ देता है तथा ज्ञान स्वभावरूप ऐसा शमरूप समुद्र उससे समस्त पापरूपी कलंकको धो डालता है—यह कोई निश्चय करके समय सारका ही एक भेद है।

आगे प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं—

मोत्तूण वयणरयणं, रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु होदित्ति पडिकमणं ॥ ८३ ॥

सामान्यार्थ—वचनकी रचनाको छोड़कर तथा राग द्वेषादि भावोंको निवारण करके जो कोई आत्माको ध्याता है उसके प्रतिक्रमण होता है।

विशेषार्थ—जो मोक्षार्थी जीव प्रतिदिन सर्व पापोंके समूहोंको क्षय करनेके लिये वचनमई प्रतिक्रमणकी स्तुति करता है उसका इस गाथामें निराकरण है। जो कोई परम तपश्चरणका कारण स्वाभाविक वैराग्यरूपी अमृतका जो समुद्र उसके बढ़ानेके लिये पूर्ण चन्द्रमाके समान है उसके अशुभ वचनोंको कहनेका राग सो नाश हो है तौभी वह प्रतिक्रमण सूत्रमें गठन की हुई कठिन वांकी रचनाको छोड़ता है और संसाररूपी बेलके मूलकंद जो

सब मोह राग द्वेष भाव इनको दूर करता है तथा सहजहित आनंदमई निजकारण परमात्माका ध्यान करता है उसी मुमुक्षु जीवके निश्चयकरके निश्चय प्रतिक्रमण होता है।

कैसा है यह निश्चय प्रतिक्रमण, जहां परमआत्मिक तत्त्वका सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और आचरण विद्यमान है। तथा जहां सम्पूर्ण वाग्विलास अर्थात् वचन रचनारूप व्यापारका त्याग है।

ऐसा ही श्रीमान् अमृतचन्द्र सूरीने कहा है—कि बहुत [illegible] विकल्परूप वचनकी रचना करनेसे कोई कार्य [illegible] नहीं है। परमार्थमात्र यही है कि नित्य एक [illegible] अनुभव करना ठीक है। क्योंकि अपने आत्मीक रसमें [illegible] एसे पूर्णज्ञानका जहां प्रगटपना है ऐसे समयसारके सिवाय [illegible] कोई कुछ अनुभवन योग्य नहीं है।

टीकाकार कहते हैं—अत्यन्त तीव्र मोहसे जो [illegible] जो कर्म उनका प्रतिक्रमण करके मैं नित्य [illegible] अपने आत्मस्वरूपके द्वारा वर्तन करता हूं।

आगे कहते हैं कि जो आत्माको ध्यान [illegible] हुए हैं उसी जीवके ही प्रतिक्रमण कहा जाता है—

साक्षात् स्वभावमें ठहरकर आत्माकी आराधनामें वर्तन करता है वही जीव निरपराध स्वभाव है। आत्माकी आराधनाका विगत होना अर्थात् विराधना होना सो अपराध है इसकरके जो रहित है वही भव्य निरपराध है।

ऐसा भव्य जीव सम्पूर्ण प्रकारसे विराधनाको छोड़ देता है। जिसके परिणामसे आराधना चली गई है उस परिणामको विराधना कहते हैं। ऐसा निरपराधी जीव ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप है ऐसा कहा गया है। सो ही श्रीसमयसारजीमें कहा है।

समयसारकी व्याख्यामें श्लोक है—जो अपराधीजीव है वह निरंतर अनंत कर्मोंसे बंधता है परंतु जो निरपराधी है वह कभी भी बंधनको स्पर्श नहीं करता है। क्योंकि सापराधी याने आत्माको नियमरूपसे अशुद्ध ही भजता है परन्तु निरपराधी भले प्रकार अपने शुद्ध आत्माका सेवक होता है।

टीकाकार कहते हैं—जो परमात्मस्वरूपके ध्यानसे रहित है ऐसा आत्मा निश्चय करके संसारी और अपराधी ही है क्योंकि अपनेको अपराध सहित ही स्मरण करता है अर्थात् अशुद्ध भावके मननसे अशुद्ध ही रहता है। किंतु जो निरंतर राग रहित एक अद्वैत चेतनके भावमें तल्लीन रहता है वही निरपराधी होता है तथा वही कर्मोंके नाश करनेमें प्रवीण होता है॥

आगे कहते हैं कि जो निश्चय चारित्रके धारी परम उपेक्षा संयमके पालनेवाले हैं उन्हींके ही निश्चय प्रतिक्रमणका स्वरूप होता है—

मोत्तूण अणायारं, आयारे जो दु कुणदि थिरभावं।
सो पडिक्कमणं उच्चइ, पडिक्कमणमओ हवे जम्हा ॥ ८५ ॥

सामान्य अर्थ—जो भव्य अनाचारको त्यागकर स्वभावमें

थिर भावको करता है वही प्रतिक्रमणमई होता है तथा वही प्रतिक्रमण स्वरूप है।

विशेषार्थ—नियतरूपसे परमोपेक्षा संयमी मुनिके शुद्धात्माकी आराधना अर्थात् भक्ति [illegible] सिवाय सर्व ही अनाचार है इस लिये सर्व ही अनाचारको त्यागकर जो स्वाभाविक चैतन्य-विलासरूप ऐसा निरंजन अपना परमात्म तत्वकी भावनाकर तिस आधार उसमें जो कोई सहज वैराग्यकी भावनासे परिणमन करता हुआ अपने स्थिरभावको करता है वही [illegible] मुनि प्रतिक्रमणस्वरूप कहा गया है क्योंकि वही [illegible] परम समता रसमई भावनामें परिणमन करता हुआ निश्चय प्रतिक्रमण-मई होता है।

भावार्थ—वैराग्यमई भाव करता हुआ जो शुद्ध आत्म [illegible] भावना करता है वहीके निश्चय प्रतिक्रमण रूप है

आगे कहते हैं कि उन्मार्गको त्यागकर सर्वज्ञवीतरागके मार्गको स्वीकार करना चाहिये—

उम्मग्ग परिचत्ता, जिणमग्गे जो दु कुणदि थिरभाव ।
सो पडिकमण उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जह्मा ॥ ८६ ॥

सामान्यार्थ—उन्मार्गको त्यागकर जो जीव जिनमार्गमें अपना थिरभाव करता है वही प्रतिक्रमणरूप कहा गया है क्योंकि वही जीव प्रतिक्रमणमई होता है ।

विशेषार्थ—जो कोई शुद्ध निश्चय सम्यग्दृष्टी शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्यदृष्टिप्रशंसा, तथा अन्यदृष्टिसंस्तव ऐसे पांच मलरूपी कलंकको कीचसे मुक्त होकर बुद्ध आदि एक तथादिमोंके कहे हुए मिथ्या दर्शन, मिथ्या ज्ञान और मिथ्या चारित्ररूपी मार्ग सामने होकर भी उन्मार्ग नहीं ऐसे उन मार्गोंको छोड़ता है और व्यवहार नयकरके महादेवाधिदेव परमेश्वर सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कहा गया जो व्यवहार चारित्ररूपी मार्ग अर्थात् पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति पांच इंद्रियोंका निरोध, प्रतिक्रमण आदि छः आवश्यक आदि २८ मूल गुणोंके आचरणमें अपने परिणामको थिर करता है तथा शुद्ध निश्चयनय करके स्वाभाविक ज्ञान आदि शुद्ध गुणोंसे शोभायमान तथा स्वाभाविक परम चैतन्य सामान्य विशेषरूप प्रतिभासमान ऐसे अपने परमात्म द्रव्यमें अपना थिर भाव करता है अर्थात् शुद्ध चारित्रमें लीन होता है वही मुनि निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है। क्योंकि निश्चय प्रतिक्रमण परम आत्मीक तत्त्वमें ही प्राप्त है इस कारणसे ही वह तपोधन सदा ही शुद्ध है ।

ऐसा ही श्री प्रवचनसारमें कहा है-विशेष आदरके धारी पुराण द्वारा यह चारित्र उत्सर्ग और अपवाद ऐसे दो भेदरूप किया जाता है उस चारित्रको स्पष्टपने अनेक भूमिकाओंको

आचरण करके मुनि सबसे अपनी अशुभ निवृत्ति करके वर्तते हुवे सामान्य विशेषरूप अपने आत्मद्रव्यमें तिष्ठता है।

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि जो मुनि इन्द्रिय विषयोंसे सर्वथा विरक्त हैं, शुद्ध चारित्र स्वरूपमें लीन हैं, तपमें अपने चित्तको अनुरागी किये हुए हैं, आत्मस्वरूपको ध्यानमें रमण करते हैं, गुणरूप मणियोंकी मालासे युक्त हैं तथा सब सांसारिक आपदाओंसे रहित हैं, ऐसे मुनि क्यों नहीं अमृतमय मोक्षपुरीके वल्लभ होकर स्फुरायमान होंगे अर्थात् अवश्य मुक्ति [illegible] शोभायमान होंगे ॥ आगे कहते हैं कि शल्य रहित भावोंमें परिणमन करनेवाला महातपोधन अर्थात् मुनि ही निश्चयप्रतिक्रमणस्वरूप होता है—

मोत्तूण सल्लभावं, णिस्सल्ले जो दु साहु परिणमदि।
सो पडिकमणं उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा ॥ ८७ ॥

सामान्यार्थ—जो मुनि सब शल्य भावको त्यागकर शल्य रहित भावमें परिणमन करता है वह प्रतिक्रमणरूप कहा जाता है क्योंकि वह मुनि प्रतिक्रमणमई हो जाता है ॥

विशेषार्थ—निश्चयनयसे यह आत्मा सर्व शल्योंसे रहित स्वरूप परमात्मा है परन्तु व्यवहार नयसे अपने कर्मरूपी कीचड़से सहित है इस कारणसे उपचार करके यह संसारी जीव माया, मिथ्या, निदान ऐसे तीन शल्योंके साथ है

इस कारण इन तीनों शल्योंको छोड़कर जो कोई विषयोंसे विमुक्त परमयोगी परम निःशल्य स्वरूप परमात्मस्वभावमें लीन होता है वही मुनि निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है। क्योंकि

अपने आत्मस्वरूपमें मग्न होना ही वास्तविक प्रतिक्रमण है।

टीकाकार कहते हैं कि विद्वान् यति तीन शल्योंको त्यागकर शल्यरहित परमात्मामें ठहरकर प्रगटपने सदा शुद्ध आत्माहीकी भावना करता है। हे मुनि! तू अपने कालिमासे रञ्जायमान होता हुआ बार २ कामदेवके बाणसे निरन्तर जो अति दुष्करके दग्ध हो चुका है सो अब तू भवभवमें भ्रमणका कारण ऐसा जो मलीन चित्त उसको छोड़ और प्रबल संसारसे भयको प्राप्त करके निज निर्मल तथा स्वभावमें हो रहे हुए ज्ञान दृको अनादि कर्म उदयके वशसे नहीं प्राप्त किया उसही ज्ञान दृको भज।

आगे कहते हैं जो मुनि तपोधन मन वचन कायकी गुप्तियोंमें गुप्त होता है उसीके ही निश्चय चारित्र होता है—

मुत्ता अगुत्ति भाव, तिगुत्तिगुत्तो हवेइ जो साहू।
सो पडिकमण उच्चइ, पडिकमणमओ हवे जम्हा॥ ८८॥

सामान्यार्थ—जो साधु अगुप्ति भावको त्याग निश्चयकरके तीन गुप्तियोंमें गुप्त होता है वही प्रतिक्रमण स्वरूप कहा गया है क्योंकि वह मुनि प्रतिक्रमणमई हो जाता है।

विशेषार्थ—जो कोई परम तपश्चरणरूप सरोवरके कमलोंकेलिये बारह तेजवान सूर्यके समान है ऐसा अत्यन्त निकट भव्य मुनीश्वर है सो बाह्य प्रपञ्चरूप जो अगुप्तिभाव उसको त्यागकर त्रिगुप्तिमें गुप्त अर्थात् स्वाधीन ऐसी विकल्प रहित परम समाधि योही है लक्षण जिसका ऐसे अति अपूर्व आत्माको ध्याता है वही निश्चय प्रतिक्रमणमई परम संयमी है इसलिये उसीके ही निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होता है—

टीकाकार कहते हैं जो मुनि मनस्तथा वचन कायके विकारोंको

सर्व त्यागकर सकलज्ञानमई स्वाभाविक परम गुप्तिको शुद्धात्माकी भावनाके साथमें भजन करता है वह मुनि त्रिगुप्तिमई होकर अपने प्रत्यक्ष स्वभावको प्राप्त होता है।

आगे ध्यानके भेदोंको कहते हैं—

मोत्तूण अट्ट रुद्द, झाण जो झादि धम्म सुक्कं वा ।
सो पडिकमण उच्चइ, जिणवरणिद्दिट्ठसुत्तेसु ॥ ८९ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई आर्त्त तथा रौद्रध्यानको छोड़कर धर्म्य ध्यान और शुक्लध्यानको ध्याता है उसीको ही जिनेन्द्र कथित सूत्रोंमें प्रतिक्रमण कहा गया है।

विशेषार्थ—अपने देशके त्यागसे, द्रव्यके नाश होनेसे, मित्र व सुजनोंके विदेश जानेसे, तथा सुन्दर स्त्रीके वियोगसे इष्टवियोग अनिष्ट आर्त्तध्यान होता है। जो चेतन अचेतन पदार्थ अपनेको इष्ट नहीं हैं उनका संयोग होते उनके वियोगकी इच्छासे पैदा हुआ अनिष्ट संयोग आर्त्तध्यान होता है।

शरीरमें वेदना होते उसके दूर न होनेतक बार बार उस पीड़ाको विचारकर दुःख मानना सो पीड़ा चिंतवन आर्त्तध्यान है। आगामी भव व कालमें भोगोंकी इच्छासे बार२ उनका चिंतवन सो निदान आर्त्तध्यान है। चोर, जार, शत्रु आदिको वध, बन्धन आदि चाहते हुए महाद्वेषरूप भावके चिन्तवनसे उत्पन्न हुआ हिंसानन्द रौद्रध्यान है। चोरी करने कराने आदिमें आनन्द मानना सो चौर्यानन्द रौद्रध्यान है। मृषावादमें आनन्द मृषानन्द रौद्रध्यान है। परिग्रहकी वृद्धिमें आनन्द मानना सो परिग्रहानन्द

ये दोनों ही आर्त रौद्रध्यान स्वर्ग और मोक्ष सुखके विरोधी हैं तथा संसार दुःखके मूल हैं। इन दोनोंको सर्वथा त्यागकर जो कोई भव्य श्रेष्ठोंमें मुख्य परम भाव जो अपने आत्माका शुद्ध भाव उसकी भावनामें परिणमन करता हुआ धर्मध्यान और शुक्ल ध्यानको ध्याता है वही मुनि निश्चय प्रतिक्रमण स्वरूप होता है। कैसा है निश्चय धर्म ध्यान, जो स्वर्ग और मोक्षकी मर्यादा रहित सुखका मूल और अपने आत्मस्वरूपमें निश्चित है। तथा कैसा है निश्चय शुक्लध्यान, जहां ध्यान और ध्येयका भेद नहीं है।

जिसका ध्यान करनेवाला अपने अंतरंगमें अपनी परिणति करके सब ही इन्द्रिय मार्गोंसे बाहर रह भेदरहित परम कलाका नाथ होता है। यह कथन परम जिनेन्द्र श्रीतीर्थंकर देवके मुख कमलसे प्रगट हुआ जो द्रव्यश्रुत उसमें प्रगट है।

इस प्रकार ४ भेद स्वरूप ध्यानोंमें आदिके दो ध्यान आर्त और रौद्र हैं अर्थात् त्यागने योग्य हैं। प्रथम अवस्थामें धर्मध्यान ग्रहण करने योग्य है। परन्तु चतुर्थ शुक्ल ध्यान सर्वदा ही उपादेय है-यही ध्यान मोक्षका निकट कारण है। ऐसा ही अन्य ग्रंथमें कहा है-जो ध्यान क्रियारहित, इन्द्रियबाह्य, ध्यान व ध्येयके विकल्पसे रहित, अन्तरंग लीनरूप है, उसीको योगियोंने शुक्ल ध्यान कहा है।

टीकाकार कहते हैं—शुद्ध नय ध्यानके भेदसमूहको ही नहीं कथन करता है-शुद्ध नयसे यह आत्मा सदा शिवमई मोक्षके ज्ञान स्वरूप अपने परमात्म तत्वमें व्यक्त अर्थात् प्रगट है।

ध्यान और ध्यानके भेद हैं इस कथनको व्यवहार नय ही सदा कथन करता है। हे जिनेन्द्र! आपका तत्व परम आश्चर्यकारी है मानों इन्द्रजाल ही है क्या।

भावार्थ—शुद्ध नय वस्तुके शुद्ध अभेद स्वरूपको ही कहनेवाला

है। व्यवहार नय अशुद्ध तथा भेद रूप कथनको कहनेवाला है। परम शुद्ध अवस्थामें ध्यान और ध्येयका विकल्प ही नहीं है। यह आत्मा स्वयं ही साध्यरूप कार्यको सिद्ध किये हुए शुद्ध हो जाता है, यही सिद्ध अवस्था इस आत्माका असल स्वरूप है। उसको कहनेवाला जो शुद्ध नय सो अन्य अवस्थाको नहीं कह सकता। इस कारण सिद्ध अवस्थाके कारणरूप जो ध्यान वह सर्व व्यवहार और भेदरूप धर्म है इसीसे व्यवहार नयहीका विषय है।

इन्द्रजालका दृष्टान्त करनेका प्रयोजन यह है कि जैसे इन्द्रजालक खेलका समझना कठिन है वैसे ही जिनवाणीके भेदोंका जानना दुर्गम है। फिर भी कहते हैं—जो यह परमात्मतत्त्व सम्यग्ज्ञानका मंडन अर्थात् आभूषण है तथा बहु ओरसे समस्त विकल्पोंके समूहोंसे मुक्त है उस तत्त्वमें प्रकट नय समूह भी कोई भी विकल्परूप प्रपंच नहीं है तो फिर कहिये उस सार्थक स्वरूपमें ध्यानावली कैसे उदय हो सकती है? अर्थात् ध्यानादि सर्व साधक अवस्थामें हैं अत एव व्यवहार मात्र हैं। शुद्ध निश्चय नयसे ये सब विकल्प नहीं हैं।

आगे कहते हैं कि आसन्न निकट भव्य जीवके पूर्व अवस्थामें कौनसे परिणाम होते हैं तथा पश्चात् कौनसे परिणाम होते हैं—

मिच्छत्तपहुदिभावा, पुव्वं जीवेण भाविया सुइरं।
सम्मत्तपहुदिभावा, अभाविया होंति जीवेण॥ ९०॥

सामान्यार्थ—पूर्वमें जीवने अनादिकालसे मिथ्यात्व आदि भावोंको भाया है। तथा सम्यक्त आदि भावोंको अनादिकालसे कभी नहीं भाया है।

विशेषार्थ—मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय, योगपरिणाम ऐसे चार भाव बंधके कारण भाव तथा इनके तेरह भेद (१३) गुणस्थान रूप हैं। जैसा कहा है—मिच्छादिट्ठिगुणट्ठाणादि सजोगिरंत चरिमंत। अर्थात् मिथ्यादृष्टि गुणस्थानोंमें चारोंको अव्रत नाम, चतुर्थ गुणस्थानतक अव्रत आदि तीनोंको, मिश्रगुणस्थानमें सम्यग्मिथ्यात्व, तथा अप्रमाद तीनोंको, देशविरतसे ले दशवें सूक्ष्म सांपराय गुणस्थान तक कषाय और योग दोको तथा ११ वें उपशांत मोहसे १३ वें सयोगकेवलि तक मात्र योग होको बंधका कारण कहा गया है।

अत्यन्त निकट भव्य जीवने पूर्व अवस्थामें निरंजन स्वरूप अपने परमात्म तत्त्वके श्रद्धानको पाकर मिथ्यात्व आदि बंधके कारण भावोंको अनादि कालसे भाया है अर्थात् निजस्वरूपके ज्ञानसे रहित बहिरात्मा मिथ्यादृष्टी जीवने परम नैष्कर्म्य चारित्र अर्थात् निश्चल स्वरूपमें स्थितिरूप स्वरूपाचरणको न पाकर सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्ररूपी मोक्षके कारण भावोंकी भावना नहीं की है। मिथ्यादर्शनसे विपरीत होकर सम्यग्दृष्टी अत्यन्त निकट भव्यजीव गुणसमूहसे पूर्ण रह सम्यग्ज्ञानको भावना करता है। सो ऐसा करता है इसके लिये भी गुणभद्राचार्यने कहा है कि इस संसारके चक्रमें मैं उन भावनाओंकी भावना करता हूं जिनको मैंने पहले नहीं भाया है। जो इन भावनाओंको भाते हैं उनके लिये ये भावनायें संसारका अभाव करनेवाली हैं।

टीकाकार कहते हैं—इस संसाररूपी समुद्रमें डूबे हुए जीवने जो कोई भी निर्वृत्ति अर्थात् मोक्षका कारण भाव है उसको कभी भी नहीं भाया है यह बड़े खेदकी बात है चाहे इसने भवभवमें इस तत्त्वको वचन मात्र सुना व कहा है यह मोक्षका कारणरूप भाव सर्वथा एक आत्मज्ञान ही है।

आगे कहते हैं कि परम मुमुक्षु जीवको सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रके सर्वथा स्वीकार करने और मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रके बिलकुल त्याग करनेहीसे निश्चय प्रतिक्रमणका लाभ होता है —

मिच्छादंसणणाण,-चरित्तं चइऊण णिरवसेसेण।
सम्मत्तणाणचरणं, जो भावइ सो पडिक्कमणं ॥ ९१ ॥

सामान्यार्थ — जो कोई मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रको सर्वथा त्यागकर सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्रकी भावना करता है वही प्रतिक्रमणरूप होता है।

विशेषार्थ — भगवान अर्हत्परमेश्वर कथित जो मार्ग उससे प्रतिकूल मार्गाभासका श्रद्धान करना सो मिथ्यादर्शन है। तथा ही उसको वस्तुओंमें अर्थात् पदार्थोंमें अन्य पदार्थोंकी बुद्धि करना सो मिथ्याज्ञान व उसही मार्गाभासमें उसका आचरण करना सो मिथ्या चारित्र है। इन तीनोंको बिलकुल त्याग देवे अथवा अपने आत्मतत्त्वका श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप जो निश्चय रत्नत्रय उसके विरोधी जो मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्र इनको भी त्याग कर देवें

तीनों कालोंमें आवरण रहित नित्य आनन्दमई एकरूप है स्वरूप जिसका ऐसा निरंजन निज परम पारिणामिक भावमई ऐसा जो कारण परमात्मा उस स्वरूप ही मेरा आत्मा है ऐसे अपने आत्मीक तत्त्वका श्रद्धान ज्ञान और आचरण वही निश्चय रत्नत्रय है। जो मुनि सो भगवान परमात्माके सुखके चाहनेवाले हैं और परम पुरुषार्थ जो मोक्षका प्रधान उसमें लवलीन हैं और शुद्ध रत्नमई आत्माकी भावना करते हैं वे परम तपोधन मुनि ही निश्चय प्रतिक्रमणरूप हैं ऐसा आगममें कथन है।

टीकाकार [illegible]

गया है वे सर्व विभावोंको तथा व्यवहार रत्नत्रयके मार्गोंको त्यागकर शुद्धात्मतत्त्वमें स्थित अपने एक ज्ञान स्वरूपहीका श्रद्धान ज्ञान और आचरण करते हैं।

आगे निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमणका स्वरूप कहते हैं —

उत्तमअट्ठ आदा, तम्हि ठिदा हणदि मुणिवरा कम्म।
तह्मादु झाणमेव हि, उत्तमअट्ठस्स पडिक्कमण ॥ ९२ ॥

सामान्यार्थ—आत्मा ही उत्तमार्थ है। उसीमें स्थित रहकर मुनि महाराज कर्मोंको नाश करते हैं इसलिये ध्यान ही उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है।

विशेषार्थ—जिनेश्वरका यह मार्ग है कि मुनियोंको सल्लेखना अर्थात् समाधि मरणके समय ४२, निर्यापक आचार्योंसे दिया हुआ जो उत्तमार्थ प्रतिक्रमण विकल्प होकरके देहका त्याग करना सो व्यवहार करके सल्लेखना धर्म है।

निश्चयकरके सल्लेखनाको कहते हैं कि, नव पदार्थोंमें उत्तम पदार्थ निश्चयकरके आत्मा ही है इस आत्माके सच्चिदानंदमई कारण समयसार स्वरूपमें जो तपोधन तिष्ठते हैं वे निश्चय सल्लेखनाके धारी हैं वे मुनि नित्य मरणरूपसे भयभीत होते हैं इसलिये जीवको जन्म मरण न प्राप्त हो ऐसा विचार कर वे मुनि कर्मोंका नाश करते हैं

इसकारण बाह्यप्रयोग आज्ञाकी अपेक्षा जो निश्चय परम शुक्लध्यान ध्यानध्येय विकल्पसे रहित सर्वथा प्रकार आत्माके सुखरूप सम्पूर्ण इन्द्रियोंके अगोचर हैं वही ध्यान उत्तमार्थ प्रतिक्रमण है ऐसा जानना चाहिये। प्रयोजन यह है कि निश्चय उत्तमार्थ प्रतिक्रमण अपने आत्माहीके आश्रय है। जो निश्चय धर्मध्यान तथा निश्चय शुक्लध्यानमई है। इसलिये अमृतका कुम्भ

है अर्थात् अमृत रससे भरा सुन्दर कलश है। तथा व्यवहार समार्ग प्रतिक्रमण, व्यवहार अप्रमत्तमय है इसलिये विषकुंभ स्वरूप हैं अर्थात् जहरसे समान है।

ऐसाही श्री समयसारजीमें कहा है कि प्रतिक्रमण, प्रतिसरण परिहार, धारणा, निवृत्ति, निंदा गर्हा, शुद्धि ये आठ प्रकार विषकुंभ हैं। क्योंकि इन क्रियाओंमें कर्तापनेकी बुद्धि संभवे है इस कारण से सर्व पातक कारण हैं। तथा यहांही श्री समयसार जीकी व्याख्यामें कहा है-यहां पर कोई कहे जो निश्चय प्रतिक्रमण न कर सकनेके कारण व्यवहार प्रतिक्रमणको विषमई जानकर उसे भी छोड़ देता है उसको आचार्य कहते हैं कि निज आत्माके निर्मल भावमें प्रतिक्रमण अर्थात् व्यवहार प्रतिक्रमणको ही विषरूप है ऐसा कहा है यहां प्रतिक्रमणको बिलकुल ही न करना अर्थात् व्यवहार निश्चय दोनोंका न करना अमृतरूप कैसे हो सकता है।

आचार्य आश्चर्य करके कहते हैं कि यह जीव नीचे नीचे गिरता हुआ क्यों प्रमादी हो रहा है क्यों नहीं वह प्रमादको त्यागकर ऊपर ऊपर चढ़ता है। भावार्थ यह है कि जो व्यवहार प्रतिक्रमणमें प्रमादी था उसको उपदेश किया है कि व्यवहार प्रतिक्रमण तो करो परन्तु इसको करते करते निश्चय प्रतिक्रमणकी प्राप्ति करे क्योंकि निश्चय अमृतरूप है और व्यवहार विषरूप है तथापि प्रतिक्रमण न करनेकी अपेक्षा उपादेय है इसलिये ऊपर ऊपर चढ़नेके लिये ऐसा उपदेश है जो व्यवहार प्रतिक्रमण कर रहा है उसको छुड़ानेके लिये नहीं।

टीकाकार कहते हैं—आत्माके ध्यानके सिवाय अन्य समस्त ध्यान भयानक संसारका कारण है। ध्यान ध्येय आदिका विकल्प रूप जो तप है सो कहने मात्र ही सुन्दर है ऐसा समझकर

१ बुद्धिमान पुरुष स्वाभाविक परमानन्दरूपी अमृतसे भरे

हुये हुए स्वाभाविक एक परम समाधीका अनुभव करते हैं।

आगे कहते हैं कि सर्व पदार्थोंके भीतर एक ध्यान ही उपादेय है [illegible] य सब त्याज्य हैं—

झाणणिलीणो साहु, परिचाग कुणइ सव्वदोसाण ।
तम्हादु झाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिक्रमण ॥ ९३ ॥

सामान्यार्थ—जो ध्यानमें लवलीन साधु है वह सब दोषोंका त्याग कर देता है इसलिये ध्यान [illegible] सर्व अतिचारोंका प्रतिक्रमण करनेवाला है।

विशेषार्थ—कोई परम जिनेन्द्रके योगीश्वर साधु अत्यन्त निकट भव्य जीव है सो आध्यात्मिक भाषाकी अपेक्षा अपने आत्माहीके आश्रयसे स्थिरीभूत ऐसा जो निश्चय धर्मध्यान उसमें ऐसा लीन है कि भेद रहितपनसे ठहरा हुआ है अथवा सर्व क्रियाकांडके आडम्बरसे छूटा हुआ व व्यवहार नयके आधीन ध्यान ध्येयका भेदरूप विकल्प उनसे रहित, सम्पूर्ण इंद्रियोंके अगोचर, परम तत्व जो शुद्ध आत्मतत्व उसके विषयभेदकी कल्पनाकी अपेक्षा न करके लवलीन होनरूप जो निश्चय शुक्लध्यान उसमें जो साधु ठहरता है वह सम्पूर्णपने अन्तरंग लीन होता हुआ शुभ तथा अशुभ समस्त मोह राग द्वेषोंको त्याग कर देता है। इसलिये अपने आत्मस्वरूपके आश्रित जो निश्चय धर्मध्यान और निश्चय शुक्लध्यान ये दोही ध्यान सर्व अतिचारोंके लिये प्रतिक्रमणरूप हैं।

टीकाकार कहते हैं—यह शुक्लध्यानरूपी दीपक जिसके चित्त रूपी घरमें प्रकाशता है वही योगी है उसीको ही अपने आप शुद्धात्माका प्रत्यक्ष हो जाता है।

आगे व्यवहार प्रतिक्रमणका फल कहते हैं—

पडिक्रमणणामधेये, सुत्ते जह वण्णिद पडिकमण ।
तह णादा जो भावइ, तस्स तदा होदि पडिकमण ॥ ९४ ॥

सामान्यार्थ—प्रतिक्रमण नाम सूत्रमें जैसा प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा है उसको वैसा ही जानकर जो उसकी भावना करता है तब ही उसके प्रतिक्रमण होता है।

विशेषार्थ—सर्व आगमके ज्ञाता, सार और असारके विचार करनेमें परम चतुराई आदि गुणके धारी नियापक आचार्योंने प्रतिक्रमणसूत्र नाम द्रव्यश्रुतमें विस्तारपूर्वक जैसा प्रतिक्रमणका स्वरूप कहा है उसको वैसा ही जानकर जिनेंद्रकी नीतिका जाननेवालो नहीं उल्लंघन करता हुआ सुन्दर चारित्रकी मूर्तिस्वरूप जो मुनि यो सदा उसकी भावना करता है उसी महामुनिके व्यवहार प्रतिक्रमण होता है। कैसा है मुनि, बाह्य परिग्रह आदिसे रहित है, पंचेन्द्रिय विषयोंके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी है तथा अपने परम गुरुके चरणोंके स्मरणमें आसक्तचित्त अर्थात् तल्लीन है।

टीकाकार कहते हैं कि निर्यापकाचार्योंके द्वारा युक्तिरूप आगमके अनुसार वचनोंको सुनकर जिस मुनिका चित्त सत् चारित्रको धारण करता है उस संयमधारी मुनिको मेरा नमस्कार होहु।

जिस मुमुक्षु मुनिके सदा व्यवहार और निश्चय प्रतिक्रमण विद्यमान है तथा जिसके अतिशय पूर्वक रंचमात्र भी अप्रतिक्रमण नहीं है ऐसे सर्व संयमरूपी आभूषणके धारी श्री वीरनंदि नाम मुनिको मैं नित्य नमस्कार करता हूं।

इस प्रकार सुकविजनरूपी कमलोंके लिये सूर्यके समान पंचेन्द्रिय विषयके विस्तार रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभमलधारी देवसे रचित श्री नियमसार व्याख्या तात्पर्य वृत्ति नाम टीकामें निश्चय प्रतिक्रमण नामका पंचम श्रुतस्कंध पूर्ण भया॥

६–निश्चयप्रत्याख्यानाधिकार

आगे सकल त्यागरूपी जो मुनि दीक्षामई शोभनीक पताका उसके लिये भारी दंडके समान तथा सर्व कर्मकी निर्जराका कारण, मोक्ष महलकी सीढ़ीरूप मुक्तिरूपी स्त्रीके मुखको प्रथम दिखलाने वाली ऐसी जो सखी उस समान इत्यादि विशेषणों सहित जो प्रत्याख्यान उसके अधिकारको कहते हैं।

प्रथम ही निश्चयनयसे प्रत्याख्यानका स्वरूप कहते हैं—

मोत्तूण सयलजप्प,–मणागयसुहमसुहवारण किच्चा ।
अप्पाण जो झायदि, पच्चक्खाण हवे तस्स ॥ ९५ ॥

सामान्यार्थ—जो सब वचन जालको त्यागकर आगामी सर्व शुभ अशुभ भावोंको व कर्मोंको दूर करके आत्माहीका ध्यान करता है उसीके ही निश्चय प्रत्याख्यान होता है।

विशेषार्थ—व्यवहारनयसे मुनिराज प्रति दिन भोजन करके अपनी शक्तिके अनुसार आगामीके लिए योग्य काल पर्यंत इष्ट अन्न, पान खाद्य और लेह्य ऐसे चार प्रकार भोजनकी रुचिका त्याग करते हैं।

यहां टीकाकारने ४ प्रकार आहारके ये नाम दिये हैं अन्य ग्रंथोंमें खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय हैं सो विरोध नहीं है। इस त्यागको व्यवहार प्रत्याख्यान कहते हैं। निश्चयनयकरके सब प्रकारके वचनोंका जो जाल उसको त्याग करके जो शुद्ध ज्ञानकी भावना और सेवा है उसकी कृपासे नवीन शुभ तथा अशुभ द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और भावकर्म राग द्वेषादि इनका जो संवर करना अर्थात् रोकना सो प्रत्याख्यान है। जो कोई सदा अपने आत्माके भीतर परिणामको करके परम कलाके धारक

अपूर्व आत्माका ध्यान करता है उसीके नित्य प्रत्याख्यान होता है।

ऐसा ही श्री समयसारजीमें कहा है कि आप सिवाय जो सब ही पदार्थ हैं वे पर (अन्य) हैं ऐसा जानकर जो प्रत्याख्यान करें अर्थात् त्यागते हैं, इस कारणसे ऐसा जो प्रत्याख्यान रूप ज्ञान सो ही नियमसे प्रत्याख्यान है। तथा श्री समयसारजीकी कलशमें कहा है कि आगामी समस्त कर्मोंको त्यागकर तथा मोहको निवारण करके मैं नित्य ही चैतन्य स्वरूप और निष्कर्म ऐसे आत्मस्वरूपके भीतर अपने आत्मस्वरूपके द्वारा वर्तन करता हूं।

टीकाकार कहते हैं—सम्यग्ज्ञानको स्वभावरूप ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव सम्पूर्ण द्रव्य कर्म, भाव कर्म, नोकर्म सम्बन्धी परिणामोंको त्याग देता है इसलिये उसीके नित्य प्रत्याख्यान होता है तथा उसीके ही अतिशयरूपसे कर्मोंको हरनेवाला सम्यक्चारित्र होता है। इसलिये मैं अपने भव-भवके क्लेशोंको नाश करनेके लिये नित्य उस प्रत्याख्यानको धारण करता हूं।

आगे अनन्त चतुष्टयमई अपने ही आत्माके ध्यान करनेका उपदेश संक्षेपमें कहते हैं—

केवलणाणसहावो, केवलदंसणसहाव सुहमईयो।
केवलसत्तिसहावो, सोऽहं इदि चिंतए णाणी॥ ९६ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई केवलज्ञान स्वभाव है, केवल दर्शन स्वभाव है, परमसुखमई है तथा केवलशक्ति स्वभाव है वही मैं हूं ऐसा ज्ञानीको विचार करना चाहिये।

विशेषार्थ—यहां आचार्य सब परम तत्वज्ञानी जीवको शिक्षा प्रदान करते हैं जो समस्त बाह्य प्रपंचकी वासनासे रहित सर्वथा प्रकार अपने अन्तरंगमें लवलीन है। आदि अंत रहित अमूर्तीक-

अतीन्द्रिय स्वभाववन्त ऐसे शुद्ध सद्भूत व्यवहारनयकरके शुद्ध स्पर्श रस गंध वर्णका धारी पुद्गल परमाणुके समान केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और केवलशक्ति सहित जो परमात्मा है सो ही मैं हूं ऐसी भावना अपने सम्यग्ज्ञानके द्वारा कार्योपयोगी है। अर्थात् 'निश्चयसे मैं सहज ज्ञान स्वरूप हूं, मैं सहज दर्शन स्वरूप हूं, मैं सहज चारित्र स्वरूप हूं, मैं सहज चैतन्य शक्ति स्वरूप हूं। इस प्रकार भावना करनी चाहिये।

ऐसा ही 'श्री एकत्वसप्तति में' कहा है कि यह परमज्योति केवलज्ञान दर्शन सुखस्वभावमई है। उस ज्योतिके देखते हुये ज्ञातव्य क्या नहीं जाना गया, दृष्टव्य क्या नहीं देखा गया, श्रुतव्य क्या नहीं सुना गया। अर्थात् यह ज्योति आत्माका स्वयं ज्ञानादि स्वरूप है उसको जानते हुए सब जान लिया जाता है।

टीकाकार कहते हैं यह परमात्मा जयवन्त होहु जिसकी मूर्ति केवल ज्ञानरूप है जो सम्पूर्णरूपसे निर्मल दर्शनको धारनेवाला है जो अविनाशी आनन्दरूप है तथा जो स्वाभाविक परम सुख व शक्तिस्वरूप है, अविनाशी है और मुनीश्वरोंके चित्तरूपी कमल सरोवरके बिच राजहंस है।

आगे परमभावनाके सन्मुख जो ज्ञानी उसको फिर शिक्षा कहते हैं —

णियभावं णवि मुचइ, परभाव णेव गेण्हए केइं ।
जाणदि पस्सदि सव्वं, सोऽहं इदि चिंतये णाणी ॥ ९७ ॥

सामान्यार्थ—जो अपने भावको कभी नहीं छोड़ता है, तथा किसी भी परभावको कभी ग्रहण नहीं करता है परन्तु सबको है और देखता है सोही मैं हूं ऐसा ज्ञानी चिंतवन करे।

विशेषार्थ—जो कोई कारण परमात्मा सम्पूर्ण पापरूपी वीर वैरि

धारण करता हूँ। तथा चेत व यात चिंतामणी जो मेरा स्वरूप उसीमें मेरा अंतःकरण रात्रिंदिन लीन है। मेरे मनमें परद्रव्यको ग्रहण करनेसे जो विग्रह (विकार) पैदा होता है उसको त्याग दिया है। मुझे विशुद्ध पूर्ण स्वाभाविक ज्ञान स्वरूप सुखकी ही मात्रिका प्रयोजन है। मुझे अन्य पदार्थके भोगनेकी आवश्यकता नहीं है।

चार प्रकारके देवोंकी तृप्ति जब उनके कंठमें झरनेवाले अमृतसे हो हो जाती है तब अन्य ग्रासरूप आहार करनेकी उन्हें कोई जरूरत नहीं हो। इसका कोई आश्चर्य नहीं मानना चाहिये। तथा जो कोई पुण्यात्मा जीव इस पुण्यमई कर्म तथा भावको भी त्यागकर निर्द्वन्द्व उपद्रव रहित, उपमारहित नित्य अपने आत्मासे ही उत्पन्न तथा जिसकी उत्पत्तिमें अन्य किसी द्रव्य व विभावकी गन्ध नहीं ऐसा जो ज्ञान रु अमृतमई निर्मल जल उसको पीता है वही प्रगटपने उसी समय अद्वितीय, अनुपम समाधि चिदानन्द रत्नको प्राप्त करता है।

कौन ऐसा विद्वान है जो कहेगा कि पर द्रव्य मेरा ही है? क्या है विद्वान, जो अपने आत्माकी महिमाको जानता है ऐसी है महिमा, जो श्री गुरुके चरणोंकी भक्ति और सेवासे प्रगट हुई है। अर्थात् ज्ञाता कभी परको अपना नहीं कह सकता।

आगे भव्य जीवको शिक्षा करते हैं कि बंध रहित आत्माकी ही भावना करना चाहिये।

पयडिट्ठिदिअणुभाग,-प्पदेसबंधेहिं वज्जिदो अप्पा ।
सोहं इदि चिंतिज्जो, तत्थेव य कुणदि थिरभावं ॥९८॥

सामान्यार्थ — यह आत्मा निश्चयसे प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश बंध ऐसे चार प्रकार बंधोंसे रहित है जो ऐसा है वही

मैं हूं इस तरह चिन्तवन करता हुआ ज्ञानी सदा ही अपने स्थिर भावको करता।

विशेषार्थ—शुभ तथा अशुभ मन, वचन और कायकी क्रियाओंसे प्रकृति और प्रदेश बंध होते हैं। चारों क्रोधादि कषायोंसे स्थिति और अनुभाग बंध होते हैं।

इन चारों ही प्रकारके बंधोंसे रहित सदा उपाधि रहित स्वरूप ही निश्चयकरके यह आत्मा है सो ही मैं हूं, सम्यग्ज्ञानीको निरंतर ऐसी ही भावना करनी चाहिये।

टीकाकार कहते हैं कि मोक्षके इच्छुक पुरुष सहज परमानंद रूप चैतन्यमई उपमा रहित अतिशयवान सुखमय ऐसे एक अपने स्वभावको ही ग्रहण करते हैं, इसलिये हे मित्र! मेरे वचनोंका सार सुनकर तू अतिशयकरके स्पष्ट इस अपने चैतन्यके चमत्कार मात्र स्वभावमें शीघ्र अपनी बुद्धि कर।

आगे समस्त विभाव भावोंको त्याग करनेकी विधि कहते हैं—

ममत्तिं परिवज्जामि, णिम्ममत्तिमुवट्ठिदो।
आलंबणं च मे आदा, अवसेसं च वोसरे॥ ९९॥

सामान्यार्थ—मैं ममताभावको त्यागता हूं तथा आत्माके निर्ममत्व भावमें ही ठहरता हूं। निश्चयकरके मुझको आत्माका ही आलम्बन है। शेष सबको मैं त्यागता हूं।

विशेषार्थ—सुन्दर स्त्री, सुवर्ण आदि समस्त परद्रव्योंके गुण और पर्यायोंमेंसे मैं अपने ममत्वभावको हटाता हूं, परमोपेक्षा संयमसे विभूषित जो मेरे आत्माका ममत्व रहित परिणाम उसीमें ही ठहरकर तथा अपने आत्माका ही आलम्बन लेकर सांसारिक संयोगोंसे उत्पन्न जो सुखदुःख आदि अनेक विभाव परिणाम उनको त्यागता हूं।

ऐसा ही श्री अमृतचंद्र सूरीने कहा है—कि सर्व पापपुण्य कार्योंको हटाकर निश्चयसे निष्कर्मरूप आत्मामें आचरण करते हुए मुनिगण अशरणरूप नहीं हो जाते हैं अर्थात् सहाय रहित नहीं होते उस समय अपने ज्ञानस्वरूप आत्मामें अपने आत्मज्ञानका आचरना यही उनको शरणरूप है। वे मुनि स्वयं ही अपने आत्मीक तत्वमें लीन रहकर परम अमृतका अनुभव करते हैं।

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—मैं निश्चयसे सम्पूर्ण मन वचन काय और इन्द्रियोंकी इच्छाओंको, तथा संसार समुद्रमें उत्पन्न मोह रूप जलजन्तुओंके समूहोंको तथा सुवर्ण और स्त्रीकी वांछाको इत्यादि सबको अपनी अत्यंत तीव्र विशुद्ध सर्व शक्तिसे त्याग देता हूं। भावार्थ—आत्मध्यानमें लीन होते ही सर्व विभाव भावोंका प्रलय हो जाता है।

आगे कहते हैं कि सब स्थानोंमें एक आत्मा ही उपादेय है—

आदा खु मज्झ णाणे, आदा मे दंसणे चरित्ते य।
आदा पच्चक्खाणे, आदा मे संवर जोगे॥ १००॥

सामान्यार्थ—निश्चयकरके मेरे ज्ञानमें आत्मा है, मेरे दर्शनमें आत्मा है, मेरे चारित्रमें आत्मा है, प्रत्याख्यान अर्थात् त्यागमें आत्मा है तथा मेरे संवर और उपयोगमें आत्मा है।

विशेषार्थ—यह आत्मा निश्चयकरके आदि अंत रहित अमूर्तीक अतींद्रिय स्वभावरूप शुद्ध स्वाभाविक सुखमई है। यही आत्मा स्वभावसे शुद्ध ऐसी जो शुद्ध ज्ञान चेतना उसमें परिणमन करनेवाला जो मैं सो मेरे सम्यग्ज्ञानमें शोभायमान है। यही आत्मा परम पूजनीक पंचम गति जो मोक्ष उसके लाभ करनेका साधनरूप पांचवां पारिणामिक भाव उसकी भावनामें रमण

करनेवाला जो मैं सो मेरे स्वाभाविक सम्यग्ज्ञानमें भी प्रकाशमान है। साक्षात् निर्वाण प्राप्ति करनेका उपाय जो निज आत्मस्वरूपमें अविचल होकर स्थिति होना है उसरूप जो स्वाभाविक परम चारित्र है उसमें परिणमन करनेवाला जो मैं सो मेरे सहज चारित्रमें भी वही आत्मा है।

वह परमात्मा जो सदा निकट ही है जो सदा अपने पास ही विराजमान है वही आत्मा निश्चय प्रत्याख्यानमें भी है। ऐसा है निश्चय प्रत्याख्यान, जहां शुभ अशुभ, पुण्य पाप, सुख दु:ख इन छहोंका सम्पूर्णपने त्याग है।

मैं भेद विज्ञानमें लीन हूं पर द्रव्योंसे परान्मुख हू, पंचेन्द्रियोंका जो फैलाव उससे रहित शरीर मात्र परिग्रहका धारी हूं, मैं स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि हू, स्वरूपमें गुप्त हू, पापरूपी वनीके जलानेकेलिये अग्नि समान हू, मेरे शुभ तथा अशुभके संवरकी अवस्थामें वही आत्मा है, मैं अशुभोपयोगसे परान्मुख हू, मैं शुभोपयोगसे भी उदासीनतारूप हू; साक्षात् शुद्धोपयोगके सन्मुख हू। परमागमकी मकरंद (सुगंध) उसमें लीन ऐसा मैं जो पद्मप्रभ सो मेरे शुद्धोपयोगमें भी वही परमात्मा अपने सनातन सदाके प्राचीन स्वभावरूपसे विराजमान है।

ऐसा ही एकत्व सप्ततिमें कहा है—वह आत्मा ही एक परम ज्ञान है वही एक पवित्र सम्यक् दर्शन है, वही एक सम्यक् चारित्ररूप होता है, वही एक निर्मल तप है। वही एक नमस्कार करने योग्य है। वही एक मंगल (सुखदाता) है, वही एक सर्वमें उत्तम पदार्थ है, संत साधु जनोंके लिये यह आत्मा ही एक शरणरूप है, यह आत्मा ही एक आधाररूप है, वही आवश्यक क्रियारूप है, स्वाध्यायरूप भी वही एक आत्मा है ऐसे ही आत्मस्वरूपमें योगीजन स्थिति करते हैं।

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं। मेरे स्वाभाविक सम्यग्दर्शनमें, मेरे शुद्ध सम्यग्ज्ञान और चारित्रमें तथा मेरे शुभ अशुभ कर्मोंके त्यागके अवसरमें यही आत्मा मेरी सबर अवस्था तथा मेरे शुद्ध उपयोगमें है। इस जगतमें मोक्ष प्राप्तिकेलिये अन्य कोई पदार्थ ऐसा नहीं है।

यही आत्मा कहीं तो निर्मलरूपसे शोभता है? कहीं शुद्धाशुद्ध मिश्र भावरूप शोभता है, कहीं बिलकुल अशुद्ध ही लगता है, अज्ञानीके लिये यही आत्मा परम गहन है, कठिनतासे प्राप्तियोग्य है।

यही आत्मा निज आत्मीक ज्ञानरूपी दीपकसे पापोंको नाश करनेवाला है, यही आत्मा हृदयरूपी कमलके महलमें निश्चयरूपसे विराजमान है।

आगे कहते हैं कि संसार अवस्थामें अथवा मुक्त अवस्थामें यह जीव सहाय रहित है—

एगो य मरदि जीवो, एगो य जीवदि सयं।
एगस्स जादि मरणं, एगो सिज्झदि णीरयो ॥ १०१ ॥

सामान्यार्थ—यह जीव अकेला ही मारा जाता है—स्वयं अकेला ही जन्मता है, अकेला ही मरता है तथा अकेला ही कर्मोंसे छूटकर सिद्ध होता है।

विशेषार्थ—नित्य मरणावस्थामें अर्थात् नित्य आयुनिषेकोंके क्षयरूप मरणमें तथा उस पर्यायके छूटनेरूप मरणमें किसी अन्यकी सहाय बिना व्यवहारकरके अकेला ही जीव मारा जाता है अर्थात् व्यवहार श्वासोच्छ्वासादि प्राणोंसे रहित होता है—आदि और अवसानरहित, मूर्तीक तथा आत्माकी जातिसे विलक्षण ऐसी जो व व्यञ्जनपर्यायरूप मनुष्यदेहकी व नरकादि देहकी प्राप्तिमें

अति निकट अनुपचरित असद्भूत व्यवहार नयकरके स्वयं यह जीव अकेला ही भ्रमता है।

सब बन्धुओंसे रक्षा किये जानेपर भी तथा महापराक्रम धारी होने पर भी बिना इच्छा व यावनाके स्वयं ही अकेले एक जीवका मरण हो जाता है। तथा परमगुरुके प्रसादसे जिसको अपने ही आत्माके आश्रयसे रहनेवाला निश्चय शुक्लध्यान प्राप्त हो जाता है यह जीव उसके बलसे अपने आत्मस्वरूपको ध्याकर कर्मरूपी रजसे छूटकर शीघ्र ही स्वयं अकेला निर्वाणको प्राप्त हो जाता है। ऐसा ही अन्य ग्रन्थमें कहा है कि यह आत्मा स्वयं ही कर्मोंको करता है स्वयं ही उन कर्मोंके फलको भोगता है। स्वयं ही संसारमें घूमता है तथा स्वयं ही संसारसे मुक्त होता है।

ऐसा ही श्री सोमदेव पण्डितदेवने कहा है—यह जीव अकेला ही जन्म और मरणमें प्रवेश करता है तथा अकेला ही अपने किये कर्मोंके फलको भोगता है, दूसरा कोई भी सुख दुःखकी विधिमें सहाय नहीं करता है। अपनी आजीविकाके लिये ही नटको अपनी पटी मिली है।

भावार्थ—नट स्वयं खेल करता है और स्वयं उनके फलको भोगता है। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—यह जीव अकेला ही प्रबल कर्मके उदयसे जन्म और मरणको प्राप्त होता है तथा अकेला ही तीव्र मोहके उदयसे, सदा आत्मीक सुखसे विमुख होता हुआ शुभ अशुभ कर्मके फलको सुन्दर सुख तथा दुःखको बारबार भोगता है। तथापि किसी भी उपायसे किसी गुरुके निमित्तसे अपने एक आत्मीक तत्वको पायकर यह जीव स्वयं उसीमें ही ठहरता है।

आगे [illegible] तीन सम्यग्ज्ञानीका

एक्को मे सासदो अप्पा, णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा ॥ १०२ ॥

भाषा अर्थ—निश्चय करके मेरा आत्मा एक अविनाशी, ज्ञान दर्शन लक्षणका धारी है। मेरे आत्मीक भावके सिवाय अन्य सर्व भाव मुझसे बाहर हैं तथा सर्व ही भाव संयोगरूप हैं अर्थात् पर द्रव्यके संयोगसे उत्पन्न हुए हैं।

विशेषार्थ—यह आत्मा द्रव्य कर्म और भाव कर्मोंसे अलग एक अकेला है। कैसे हैं ये कर्म, जो समस्त संसाररूपी वन-वनके वृक्षोंकी क्यारीमें जल भरनेके लिये प्रणालिका (मोरी) के समान हैं तथा इस सांसारिक कलेवर जो लोकमें उसके कारणभूत हैं। अर्थात् इन्हीं कर्मोंके निमित्तसे नये कर्मोंका आस्रव और बंध होता है। यही आत्मा सर्व क्रियाकाण्डका आडम्बर और उसके लिये नाना प्रकारके कोलाहल उससे दूरवर्ती ऐसी जो शुद्ध चेतना उसमई अतीन्द्रिय सुख उसको भोगनेवाला है तथा अविनाशी है, यही मेरे लिये उपादेय है।

यही तीनों कालोंमें उपाधि रहित स्वभावको धारनेवाला है और आवरण रहित निर्मल ज्ञान और दर्शन लक्षणसे पहचानने योग्य कारण परमात्मा है। तथा शुभ, अशुभ कर्मोंके संयोगसे उत्पन्न भए मेरे आत्माके निज स्वरूपसे भिन्न समस्त बाह्य और अभ्यंतर परिग्रह हैं ऐसा मेरा निश्चय है।

भावार्थ—मैं शुद्ध आत्मा ही हूं, मुझसे भिन्न सर्व पर हैं।

टीकाकार कहते हैं कि मेरा परम आत्म स्वभाव अविनाशी है यही एक स्वाभाविक परम चैतन्य चिंतामणिरूप है, नित्य शुद्ध है, मर्यादा बिना अपने दिव्य ज्ञान दर्शन करके पूर्ण है अन्य बहुत विकल्पोंसे तथा बाह्य पदार्थोंसे मुझको किस फलकी प्राप्ति

अभेद अनुपचाररूप चारित्र स्वभावमें निश्चल अवस्थारूप स्थिति भई है। इस प्रकार क्रमसे तीन प्रकार सामायिकको स्वीकार करनेसे निराकार चारित्र प्राप्त होता है। कैसा है निराकार चारित्र, सदा स्वाभाविक परमतत्त्वमें अविचल स्थिति है तथा वही स्वाभाविक निश्चय चारित्र है क्योंकि वही निराकार तत्त्व जो आत्मीक तत्त्व उसीमें तल्लीनपना है।

ऐसा ही "श्री प्रवचनसारजी"की व्याख्यामें कहा है कि द्रव्यको अनुसरण करनेवाला चारित्र होता है। अर्थात् आत्मद्रव्यको सिद्ध करनेवाला चारित्र होता है तथा चारित्रके अनुसार प्राप्त होनेवाला आत्मद्रव्य होता है। अपेक्षासे दोनोंका ही यही स्वरूप है। जहां आत्मद्रव्य है वहीं चारित्र है इसलिए चाहे द्रव्यकी प्रतीति करके चाहे चारित्रकी प्रतीति करके मोक्षका चाहनेवाला मोक्षमार्गमें आरोहण करता है अर्थात् मोक्षके उपायमें उन्नति करता है।

टीकाकार कहते हैं—जो मुनि यती आत्माके चैतन्यपनेकी भावनामें आसक्त बुद्धि हैं वे यती संसारमें फिरानेके स्वभावको धारनेवाला जो यम (काल) उसको नाश करनेके कारण होते हैं अर्थात् भवमें भ्रमणका कारण जो कर्म उसको दग्ध कर देते हैं।

आगे कहते हैं जो अंतरंगमें लीन होकर मुनिगण आचरण करते हैं वहांके भावोंकी शुद्धता होती है—

सम्मं मे सव्वभूदेसु, वेरं मज्झं ण केण वि।
आसाए वोसरित्ता णं, समाहि पडिवज्जए ॥ १०४ ॥

सामान्यार्थ—सर्व प्राणियोंसे मेरे समता है तथा किसीके भी साथ मेरा वैरभाव नहीं है। निश्चयकरके आशाको त्याग करके समाधिभावको प्राप्त होता हूं।

विशेषार्थ—समस्त इन्द्रियोंके व्यापारसे छूटा हुआ ऐसा जो

मैं जो मेरे भेद विज्ञान ज्ञानी अज्ञानी सब ही प्राणियोंमें समता भाव है। निश्चरनेकी अथवा टेचरनेकी परिणतिके अभाव होनेसे मेरा किसी भी मनुष्यके साथ वैरभाव नहीं है तथा स्वाभाविक वैराग्यमें परिणमन करनेवाला ऐसा जो मैं सो मेरे एक भी आशा नहीं विद्यमान है, इसलिये परम समता रसमें डूबा हुआ जो भाव उस भावको त्यागियों की परम समाधि (उत्कृष्ट समता) उसके भावको ही मैं प्राप्त होता हूं।

ऐसा ही श्री योगीन्द्रदेव कहते हैं—'मुक्त्वालसत्वमधिसत्वबलोपपन्नः स्मृत्वा परां च समतां कुलदेवतां त्वं। संज्ञानचक्रमिदमङ्ग गृहाण तूर्णमज्ञानमन्त्रियुतमोहरिपूपमर्दि ॥'

भावार्थ—हे संसारी जीव! तू सत्त्व सम्पन्न हुआ आलस्यको त्यागकर और अपनी कुलदेवी जो उत्कृष्ट समता उसका स्मरण करके शीघ्र ही सम्यग्ज्ञानरूपी चक्रको ग्रहण कर और अज्ञानमंत्री सहित मोहरूपी शत्रुका मर्दन कर।

टीकाकार कहते हैं कि मैं उस समताकी अतिशयरूपसे भावना करता हूं। कैसी है समता, जो मुक्तिरूपी स्त्रीमें भ्रमरके समान स्थित है। अपुनर्भव जो मोक्ष उसके सुखकी जड़ है। खोटी भावनाके अंधकारमई समूहको नाश करनेके लिये चन्द्रमाकी कीर्ति अर्थात् निर्मल चांदनीके समान है तथा संयमी मुनियोंके सदाकाल ही सम्मत अर्थात् माननीय है। इस समताकी जय हो। जो समता नित्य योगियोंको भी दुर्लभ है तथा आत्मीक सुखको बढ़ानेके लिये स्फुरित पूर्ण चन्द्रमाकी प्रभाके समान है।

परम यमी जो महाव्रती मुनि उनको दीक्षारूप स्त्री उनके

१ संस्कृत टीकामें इसके बदले "मुक्त्यंगनालि" इत्यादि लिया है।

मनको प्यारी यह समता सखीके समान है। तथा मुनिवरोंके गणके लिये यह समता एक अतिशयमई अलंकार है। यही समता जगतके प्राणियोंके लिये भी परम आभूषण है।

आगे निश्चय प्रत्याख्यानके योग्य जो जीव तिसका स्वरूप कहते हैं—

णिक्कसायस्स दंतस्स, सूरस्स ववसायिणो ।
संसारभयभीदस्स, पच्चक्खाणं सुहं हवे ॥ १०५ ॥

सामान्यार्थ—जो कषाय रहित है, इन्द्रिय दमन करनेवाला है योद्धा है, उद्यमी है, तथा संसारसे भयभीत है उसीके ही सुखमई यह प्रत्याख्यान होता है।

विशेषार्थ—जो मुनि सब कषायरूपी कलंकको कीचसे विमुक्त (रहित) है, जिसने सब इन्द्रियोंके व्यापारोंको विजय कर लेनेसे परम दमपना प्राप्त किया है, तथा जिसने सम्पूर्ण परीषहरूपी महान् योद्धाओंको विजय करके अपने योद्धापनेके गुणोंको उपजाया है। और जो मुनि निश्चयरूप जो परम तपश्चरण उसमें लीन हो शुद्धभावका धारी है तथा जो संसारसे भयवान है उसीके ही व्यवहारनयसे चार प्रकार आहारका त्यागरूप प्रत्याख्यान होता है।

यह व्यवहार प्रत्याख्यान मिथ्यादृष्टि पुरुषके भी कहीं किसीके चारित्र मोहके उदयरूप जो द्रव्यकर्म और भावकर्म उनके क्षयोपशमसे हो जाता है। अतएव जो निश्चयनय करके प्रत्याख्यान है वही वास्तविक प्रत्याख्यान है। यह प्रत्याख्यान भव्य व निकट भव्य जीवोंके ही होता है। जैसे सुवर्णको रखनेवाले पत्थरको उपादेयपना है अर्थात् ग्राह्यपना है ऐसा अन्धपाषाणको नहीं है क्योंकि उससे सुवर्ण प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिये संसार

शरीर और भोगोंसे जो वैराग्य है वही निश्चय प्रत्याख्यानका कारण है।

आगामी कालमें जिनका होना संभव है ऐसे सर्व मोह राग द्वेषादि नानाप्रकारके विभावोंका त्यागना ही परमार्थ प्रत्याख्यान है। अथवा आगामी कालमें होनेवाले विविध जो अंतरंगमें वचनरूपी विकल्प उनका त्याग करना सो शुद्ध निश्चय प्रत्याख्यान है।

टीकाकार कहते हैं कि हे मुनिप्रधान! यह प्रत्याख्यान जिनेन्द्रमुखसे प्रगट भया है, यही परम मुनियोंको उत्कृष्ट निर्वाण सुखका करनेवाला है, यही स्वाभाविक समतादेवीके सत्य कर्णोंका आभूषण कर्णफूल है तथा अतिशयकरके यही दीक्षारूपी स्त्री उसको अत्यन्त यौवनदान करनेका कारण है। ऐसे प्रत्याख्यानकी निरंतर जय होहु।

आगे निश्चय प्रत्याख्यान नामा अध्याय उसको सकोचते हुए संक्षेपमें कहे हैं—

एवं भेदब्भासं, जो कुव्वइ जीवकम्मणो णिच्चं ।
पच्चक्खाणं सक्कदि, धरिदे, सो संजदो णियमा ॥ १०६ ॥

भावार्थ—ऊपर कहे प्रमाण जो कोई जीव और कर्मोंके भेदके अभ्यासको नित्य करता है वही संयमी नियमकरके प्रत्याख्यानको धारण कर सकता है।

विशेषार्थ—जो कोई श्रीमान अर्हंत भगवानके मुखकमलसे प्रगट जो परमागम उसके अर्थको विचार करनेमें समर्थ है तथा अपने भेदाभ्यासके बलसे अशुद्ध आत्माके साथ जो कर्म पुद्गलोंका अनादि बंधनका सम्बन्ध है उनके अर्थात् आत्मा और कर्मके भेदको कर देता है अर्थात् दोनोंको भिन्न२ अनुभव करता है

सदा इस प्रकार निश्चय और व्यवहार प्रत्याख्यानको स्वीकार करता है।

टीकाकार कहते हैं—आगामी कालमें होनेवाला जो संसार उसके भावोंको दूर करनेवाला मुनियोंका स्वामी रात्रि दिन सम्पूर्ण सुखका निधान, निर्मल, आत्मीक स्वरूपमई जो कोई तत्त्व उसकी भावना अपने कर्म उड़ानेके लिये करा करता है।

भावार्थ—जैसे सिद्ध भगवान हैं वैसा ही मैं हूं यह भावना परम सुखदाई और स्वरूप समाधिकी कारण है। जिनेन्द्र भगवानने इस तत्त्वको भयानक संसाररूपी समुद्रसे पार करनेके लिये एक शोभनीक जहाजके समान कहा है। निश्चयसे यही परम तत्त्व है इसलिये मोहको जीतकरके मैं सर्वकाल इसीकी ही भावना करता हूं।

यह प्रत्याख्यान निरंतर उसीके ही होता है जो शुद्ध चारित्रकी मूर्ति है तथा जिसने पर द्रव्यके भ्रमको नाश कर देनेसे स्वाभाविक परमानंदमई चेत य शक्तिके द्वारा विकल्परूप बुद्धिको नष्ट कर दिया है। अ य आगममें लीन अन्य योगियोंका सुख दान (उपयोग) इस ओर नहीं हो सकता। इसके बिना पुन पुन जीवोंका इस भयानक संसारमें भ्रमण होता है। यह सिद्धात्मा महान ज्ञान लोकमें परमानन्दरूप है, जगतमें प्रसिद्ध है, अविनाशी स्वरूप है, अतिशयकरके अपने निज गुणमें ही जिसकी स्थिति रहती है। ऐसे ज्ञान स्वरूपको छोड़कर यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि ये विद्वान लोग भी तीव्र कामके बाणोंसे पीड़ित हो किस प्रकार पापसे होते हुए जड़बुद्धि होकर पाप कार्यकी इच्छा करते हैं।

प्रत्याख्यान करनेसे ही मुनियोंको प्रगटरूपसे अत्यन्त शुद्ध सम्यग्चारित्र होता है। कैसा है सम्यग्चारित्ररूप आत्मतत्त्व,

जो पापरूपी वृक्षोंसे भरी जो संसाररूपी वनी उसके जलानेके लिये अग्निके समान है।

हे भव्योंमें सिंह! तू अपनी बुद्धिमें इसी तत्त्वको धारण कर, जो तत्त्व स्वाभाविक सुखका देनेवाला और मुनियोंके स्वभावका भूप है। उस सहज आत्मीक तत्त्वको जय हो जो स्वाभाविक तत्त्व आत्मीक तत्त्वमें धारी है, बुद्धि जिन्होंने उनके हृदयरूपी सरोवरमें उत्पन्न होता है तथा जो आत्माके अन्दरमें स्थित है, तथापि अपने स्वाभाविक तेजसे मोहरूपी अन्धकारको जिसने नाश किया है तथा जो अपने आत्मीक रसके फैलावसे प्रकाशमान ज्ञानका प्रकाशमात्र है।

मैं हर्षपूर्वक निरंतर उस स्वाभाविक तत्त्वको ही नमन करता हूं। कैसा है यह तत्त्व, जो खण्डन रहित है, सम्पूर्ण दोषोंसे दूर है, उत्कृष्ट है, संसार समुद्रमें मग्न जीव समूहोंको निकालनेके लिये जहाजके समान है तथा सकल कर्म समूहरूपी दावानल अग्नि उसके शांत करनेके लिये जलके सदृश है।

तथा मैं इस सहज आत्मीक तत्त्वको अतिशय करके नमस्कार करता हूं। कैसा है यह सहज तत्त्व, जो जिन प्रभुके मुखकमलसे प्रगट है, अपने शुद्ध स्वरूपमें स्थित है, मुनीश्वरोंके मनरूपी घरके अन्दर जलनेवाले सुन्दर रत्नदीपक समान है, जिसका दशनादि दोष रहित योगियोंसे सदा नमस्कार योग्य है, तथा ज्ञान दृका मंदिर है, तथा उस परम तत्त्वको नमन करते हैं। कैसा है यह परमतत्त्व, जिसने पापके समूहको नष्ट कर दिया है, पुण्यकर्मके समूहको भी घात किया है, कामदेव आदिका संहार किया है, जो प्रबल ज्ञानका महल है, तत्त्व वेत्ताओंके समूहों करके स

भावार्थ—आत्मतत्वमें तल्लीनता ही सर्व प्रत्याख्यानका मूल है।

इस प्रकार सुकवियोंके कमलोंको प्रफुल्लित करनेके लिये सूर्यके समान पंचेन्द्रियोंके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभ मलधारीदेव द्वारा विरचित श्रीनियमसार प्राकृत-ग्रन्थकी तात्पर्यवृत्ति नाम संस्कृतटीकामें निश्चयप्रत्याख्यान नामका छठा श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।



७–निश्चयालोचनाधिकार

आगे निश्चय आलोचनाका स्वरूप कहते हैं—

णोकम्मकम्मरहियं, विहावगुणपज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि, समणस्सालोयणं होदि ॥ १०७ ॥

सामान्यार्थ—जो मुनि आत्माको नोकर्म, द्रव्यकर्म तथा विभावगुण और पर्यायोंकरके रहित ध्याता है उसी श्रमणके आलोचना होती है।

विशेषार्थ—औदारिक, वैक्रियक, आहारक शरीर ही नोकर्म हैं। ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी अन्तराय, मोहनी, वेदनी, आयु, नाम, और गोत्र ये आठकर्म द्रव्यकर्म हैं। कर्मोंकी उपाधिकी जहां अपेक्षा नहीं है ऐसी निरपेक्ष सत्ता मात्रको ग्रहण करनेवाली जो शुद्ध निश्चय द्रव्यार्थिक नय उसकी अपेक्षाले यह आत्मा द्रव्य कर्म और नोकर्मोंसे रहित है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान विभाव गुण हैं तथा नर, नारक तिर्यंच, देव ये व्यंजन पर्याय हैं तथा ये ही विभाव पर्याय हैं। गुण सहभावी होते हैं और पर्याय क्रम-क्रमसे चलनेवाली होती है। इन सम्पूर्ण विभाव गुण और पर्यायोंसे जो आत्मा रहित है तथा अपने स्वभाव गुणोंकरके सहित है ऐसे तीनों कालोंमें आवरण रहित कर्माञ्जनसे दूर ऐसे परम शुद्ध आत्माको जो कोई परमश्रमण (परम दिगम्बर यती) मनवचन कायकी गुप्तिमई समाधिके बलसे निरत ध्यानके समयमें समरत

उदयरूप जो यह सम्पूर्ण उदयमें प्राप्त कर्म है उसको आलोचना करके अर्थात् उसका त्याग करके कर्मरहित चैतन्य स्वरूप आत्माके अन्दर मैं नित्य अपने आत्मस्वरूपके द्वारा वर्तन करता हूँ।

श्री उपासकाध्ययनमें ऐसा कहा है कि कृत, कारित और अनुमोदनासे कपट रहित हो सर्व पापको त्यागकर मरण पर्यंत सम्पूर्ण प्रकारसे महाव्रतोंको धारण करना योग्य है। ऐसा ही टीकाकार कहते हैं—मैं आलोचना करने योग्य जो घोर संसारके मूल समस्त पुण्य और पाप उनको नित्य त्यागकर अपने आत्मा द्वारा उपाधिरूप गुणोंसे रहित शुद्धात्माका ही अवलम्बन अर्थात् आश्रय लेता हूँ। पश्चात् अतिशय करके समस्त द्रव्यकर्मोंकी प्रकृतियोंको नष्ट करके स्वाभाविक चिदात्मरूप मोक्षरूपी लक्ष्मीको प्राप्त होऊँगा।

आगे आलोचनाका लक्षण और भेद कहते हैं—

आलोयणमालुंछण, वियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं, आलोयणलक्खण समए ॥१०८॥

सामान्यार्थ—आगममें आलोचनाका लक्षण चार प्रकारका कहा गया है। अर्थात् आलोचन, आलुंछन, अविकृतिकरण तथा भावशुद्धि॥ इन चारोंका स्वरूप आगे कहेंगे।

विशेषार्थ—अर्हंत भगवानके मुखारविन्दसे उदयको प्राप्त हुई जो अनक्षरात्मक दिव्य ध्वनि, जो सम्पूर्ण सभास्थित जनोंको श्रवणगोचर है परम सुन्दर और आनन्ददायक है उस दिव्य ध्वनिके द्वारा जाने हुए ज्ञानमें कुशल और मन पर्यय ज्ञानके धारी गौतम महर्षि उनके मुखकमलसे प्रगट जो चतुर वचन समूह उस कर रचित राद्धान्त आदि समस्त शास्त्र उनके अर्थोंका सार जिसमें सर्व प्रकारसे गर्भित है ऐसी जो शुद्ध निश्चय परम आलोचना उसके चार भेद हैं।

आगेके सूत्रोंमें इनका वर्णन करेंगे। टीकाकार कहते हैं कि मुक्तिरूपी स्त्रीके संगमका कारण जो यह आलोचना उसके भेदको जानकरके जो भव्य जीव अपने आत्मस्वभावमें स्थिति करता है उस भव्य जीवको अपने आत्मस्वभावमें स्थिति होनेके लिये मैं नमस्कार करता हूं।

आगे आलोचनाका स्वरूप कहते हुए परमसमयसारको कहते हैं—

जो पस्सदि अप्पाण, समभावे सठवित्तु परिणाम।
आलोयणमिदि जाणह, परमजिणंदस्स उवएस॥ १०९॥

सामान्यार्थ—जो समताभावमें अपने परिणामको धरकर अपने आत्माको देखता है उसीके हो आलोचना है, ऐसा परम जिनेन्द्रका उपदेश है।

चैतन्य रूपमई दृशाता है वह थोड़ेसे ही कालमें मोक्षके निश्चल स्थानको प्राप्त होता है। जहां मुक्तिरूपी लक्ष्मीका विलास है और जो अत्यंत अतींद्रिय सुखरूप है, ऐसा ही महात्मा इन्द्रों मुनियोंकी पंक्तियों विद्याधरों तथा भूमिगोचरियोंके द्वारा वन्दनीक है। उन ही गुणोंकी अपेक्षासे मैं उस चैत स्वरूपको नमन करता हूं जो वन्दनीक और सर्व गुणोंका स्थान है।

यह आत्मा परम यमी मुनियोंके चित्तरूपी कमलके मध्यमें प्रगट रहता है। ऐसा है आत्मा, जो ज्ञान ज्योतिमई है, जिसने पापरूपी अंधकारके पुंजका नाश कर दिया है, जो समीचीन है तथा जो आत्मा जीवोंके वचन और मनसे अगोचर रहता है। आचार्य कहते हैं कि जो अत्यन्त प्राचीन परम शुद्धपरमात्मा है उसमें विधि निषेध क्या होगा? ऐसा कहनेसे परमयोगीश्वरने व्यवहार आलोचनाके प्रपंचकी हँसी की है।

टीकाकार कहते हैं—सब पाप रहित चैतन्य स्वरूपकी जय हो। कैसा यह सहजतत्व, जो अतिशय करके समस्त इन्द्रियोंके समूहसे उत्पन्न जो कोलाहल (विकल्परूप उद्वेग) उनसे मुक्त है उस सहज तत्वमें नयोंका तथा अपनयोंके समूहोंका प्रवेश नहीं है, निश्चय व्यवहारनय आदि विकल्पोंसे जो दूर हैं ऐसा यह तत्व योगियोंहीके गोचर है। यह आत्मीक तत्व सदा आनन्दमई और उत्कृष्ट है परन्तु आत्मज्ञानसे रहित अज्ञानी जीवोंके लिये यह तत्व महादुर्लभ है।

भव्य जीव परम गुरुके प्रसादसे इस शुद्धात्माको आत्मीक सुखरूपी अमृतके समुद्रमें मग्न समझ कर अविनाशी सुखको प्राप्त करते हैं। इसलिये मैं भी अतिशय करके सब जीवोंकी भावना करता हूं। कैसा यह तत्व, जो अपूर्व है सम्पूर्ण

भेदोंके अभावसे यह कोई स्वाभाविक वस्तु है तथा सिद्धि स्थानके सुख करके शुद्ध है।

मैं उस परमात्म तत्त्वकी भावना करता हूं जो-समस्त संगके समूहसे मुक्त है, जो मोह रहित, पापोंसे दूर और पर भावोंसे शून्य हुआ है तथा मैं नित्य ही निर्वाण रूप शोक रहित हुए सुखके लिये उसी ही तत्त्वको प्रणाम करता हूं।

अपने भावसे भिन्न सम्पूर्ण विभावोंको त्याग कर संसार-समुद्रसे तरनेके लिये नित्य एक चैतन्यमात्र निर्मल भावकी भावना करता हूं तथा अत्यन्त ही भेदोंसे रहित जो मोक्षका मार्ग है उसको भी नमन करता हूं।

आगे आलुञ्छनका स्वरूप कहते हुए परमभावस्वरूपका व्याख्यान करते हैं —

कम्ममहीरुहमूल,-च्छेदसमत्थो सकीयपरिणामो ।
साहीणो समभावो, आलुंछणमिदि समुद्दिट्ठं ॥ ११० ॥

सामान्यार्थ —अष्ट कर्मरूपी वृक्षके मूलको छेद करनेमें समर्थ जो अपने ही आत्माका स्वाधीन और समता भावरूप परिणाम उसीको आलुञ्छन इस नामसे कहा है।

विशेषार्थ —यहां पंचम जो पारिणामिक भाव उसका स्वरूप कहते हैं। भव्यत्व नाम जो पारिणामिक भाव उस स्वभावका धारी जो भव्यजीव उसके निजआत्म सम्बन्धी जो पारिणामिक भाव वो ही परम भाव है। यह पंचम भाव औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक इन चार विभाव स्वभावोंके गोचर नहीं है। अतएव उदय अर्थात् समय पाकर कर्मोंका उदय, उदीरणा अर्थात् आगामी उदय योग्य कर्मोंका पहले एक साथ बहुतसोंका उदय हो जाना।

क्षय अर्थात् कर्मोंका सर्वथा नाश। क्षयोपशम अर्थात् कर्मोंके सर्व घाती स्पर्द्धकोंका उदयाभावी क्षय तथा उपशम, देशघाती स्पर्द्धकोंका उदय ऐसे चार अवस्था द्वारा उत्पन्न हुए नाना प्रकारके विकार भाव उनकरके रहित है इस कारण इस एक आत्माके शुद्ध परिणामको ही परमत्व अर्थात् उत्कृष्टपना है इसकी अपेक्षा अन्य चार विभाव भावोंको अपरत्व (हीनपना) है यह परम भाव सम्पूर्ण कर्मरूपी विषवृक्षकी जड़को उखाड़नेको समर्थ है।

तीनों कालोंमें भी जिसके आवरण नहीं होता ऐसा निरावरण निज कारण परमात्मा उसके स्वरूपका जो श्रद्धान वह सम्यक्त्व है। उसका विरोधी जो तीव्र मिथ्यात्वकर्म उसके उदयके वशमें जो शुद्ध परम भाव यद्यपि शुद्ध निश्चय नयके द्वारा मिथ्यादृष्टिके भी सदा विद्यमान है तथापि वही भाव अविद्यमानके समान ही है क्योंकि मिथ्यादृष्टिको उस परम भावका भान भी नहीं होता। नित्य निगोद क्षेत्रवासी जीवोंके भी यह परम भाव शुद्ध निश्चय नयके द्वारा है तथापि अभव्यत्व पारिणामिक भावकी अपेक्षासे उनके यह भाव सभव नहीं है।

जैसे सुमेरु पर्वतके नीचे अधोभागमें स्थित जो सुवर्ण राशि उसके भी सुवर्णपना है तैसे ही अभव्य जीवोंके भी यह परम स्वभावपना वस्तुनिष्ठ है अर्थात् आत्मपदार्थमें शोभायमान है अर्थात् शक्तिरूप है किन्तु उसकी व्यक्तता नहीं है, व्यवहार नयसे उन जीवोंमें परम स्वभावकी योग्यता नहीं है। सुदृष्टी जीवोंके यह परम भाव सफलताको लिये हुए है।

कैसे हैं सुदृष्टी जीव, जिनके संसारका नाश अति आसन्न है अर्थात् जो आसन्न व निकट भव्य जीव है।

यह परम भाव सदा निरंजनरूप है, कर्मांजनसे रहित है क्योंकि यही परम भाव सम्पूर्ण कर्मरूपी कठोर विषके वृक्षके

दृढ़ मूलके उखाड़नेमें समर्थ है। निश्चय परम आलोचनाका भेद-रूप यह आलुंछन भाव इस परम पंचम पारिणामिक भावहीके द्वारा ही अति निकट भव्य जीवको सिद्ध होता है। यहां टीकाकार कहते हैं कि—यह एक पंचम भाव सदा जयवंत रहो। कैसा है यह भाव जो अत्यन्त शुद्ध है।

कर्मोंके नाशसे प्रगट जो आत्माकी स्वाभाविक अवस्था उसके द्वारा यह भाव स्थितिरूप है। यही भाव आत्मामें लीन सम्पूर्ण मुनियोंकेलिये मुक्तिका मूल है, एक आकाररूप है, अपने रसके विस्तारसे पूर्ण है पवित्र है तथा समीचीन है।

यह ज्ञान ज्योति अनादिकालके संसारसे अबतक सम्पूर्ण जीवोंके तीव्र मोहनीयके उदयसे अपने आत्मीक कार्यमें मुग्ध (मूढ़) हो रही है तथा कामदेवके वशमें प्राप्त होकर यह ज्योति नित्य उन्मत्तरूप हो रही है। यही ज्ञानज्योति मोहके अभाव हो जानेसे शुद्ध भावको प्राप्त हो जाती है। कैसा है शुद्ध भाव, जिसने दिशाके मंडलको धोडाला है अर्थात् सर्वत्र व्याप्त है तथा जिसने आत्माकी स्वाभाविक अवस्थाको प्रगट कर दिया है।

आगे अविकृतिकरणका स्वरूप कहते हैं—

कम्मादो अप्पाणं, भिण्णं भावेइ विमलगुणणिलयं।
मज्झत्थ भावणाए, वियडीकरणंति विण्णेयं॥ १११॥

सामान्यार्थ—निश्चय करके कर्मोंसे भिन्न निर्मल गुणका स्थान जो आत्मा उसको जो कोई मध्यस्थ अर्थात् वीतराग भावना उसमें लीन होकर भावता है उसके ही अविकृतिकरण जानना चाहिये।

विशेषार्थ—यहां शुद्धोपयोगी जीवकी परिणतिविशेषको कहते हैं। जो कोई भव्य पापरूपी वनको दग्ध करनेके लिये अग्निके

समान होकर द्रव्य, भाव और नोकर्मोंसे भिन्न तथा स्वाभाविक गुणके निधान आत्माको ध्याता है उसीके ही सहज गुणरूप जो परम आलोचना उसका स्वरूप प्राप्त होता है।

टीकाकार कहते हैं कि यह आत्मा सम्पूर्ण द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि और नोकर्म औदारिक शरीरादि उनकी राशियोंसे सदा ही भिन्न रहता है, अंतरंगमें शुद्ध है, शम कहिये शांतभाव और दम कहिये इंद्रियवशता ऐसे शमदमरूपी कमलोंके लिये राजहंसके समान है–जैसे राजहंस कमलमें केलि करता है ऐसे ही आत्मा शम दममें रमता है। मोहके अभाव होनेसे यह आत्मा अपनेसे भिन्न सर्व अन्य पदार्थोंको कभी नहीं ग्रहण करता है।

ऐसा यह आत्मा नित्य ज्ञान दर्शन आदि अनुपम गुणमई तथा चैतन्य चमत्कारकी मूर्ति है। यह शुद्धात्मा अविनाशी अंतरंग गुणरूपी रत्नोंका समूह है, शुद्ध भावरूप अमृतके अत्यंत निर्मल समुद्रमें जिसने अपने पापरूपी कलंकोंको धोडाला है, जिसने इंद्रियरूपी ग्रामोंके कोलाहलको हटा दिया है तथा अपनी ज्ञान ज्योतिकरके मोह अन्धकारके फैलावको नाशकर दिया है ऐसा शुद्धात्मा प्रकाशमान होता है। यह लोक संसारके जन्म मरण आदिरूप भयानक और स्वभावमई उत्तापमान हो रहा है अर्थात् दुखी हो रहा है ऐसे लोकमें मैं मुनिपति अपने भावकी कृपासे शम अर्थात् शांतभावरूपी अमृत मई ऐसी जो हिमानी (बर्फ) उसको प्राप्त करता हूं अर्थात् परम शीतल स्वभाव होता हूं।

जो आत्मा मुक्त हो जाता है अर्थात् सिद्ध होता है वह जीव कभी भी फिर विभावपनेको नहीं प्राप्त होता है क्योंकि उसने विभाव शरीरके कारणभूत समस्त पुण्य और पापका नाश कर दिया है। इसलिये मैं इस लोकमें पाप पुण्यरूप कर्मोंके जालोंको छोड़कर एक ही मुमुक्षु पुरुषोंके द्वारा चले हुए मार्गमें चलता

है, मैं पुण्य रूपोंके आदरसे बनी हुई इस संसारकी मूर्तिको त्याग करके अर्थात् इस शरीरसे मोह हटाकरके सदा शुद्ध ज्ञान शरीरी आत्माको ही प्राप्त होता हूं। कैसा है यह भवमूर्ति, सदा अनादि कर्म मलसे उत्पन्न जो संसाररूपी रोग उसका मूल है। तथा कैसा है यह ज्ञानशरीरी आत्मा, उत्तम है और शुभ अशुभ भावोंसे मुक्त है इसी प्रयुक्त विचारका नाम शुद्ध चेतनका भावना है।

अनन्त चिच्चमत्कार शक्तिमान सम्यक्त्व मूल शुभ अशुभ कर्मोंको प्रगटपने जानकरके मैं भवभवमें मरकम रहित पंचमगति मोक्षका दातार ऐसा जो कोई शुद्ध आत्मीक भाव है उसको नमस्कार करता हूं और उसीको प्रतिदिन भावना करता हूं। यह आत्म भाव न मनोहर वचन रचनाका विषय है न साधुजनोंका विषय है। यह ज्योति आदि और अन्तसे शून्य है तथापि श्रीगुरुके वचनोंके प्रतापसे जो कोई शुद्ध सम्यग्दृष्टी इसीको प्राप्त करता है वह मोक्षरूपी परम स्त्रीका वर होता है।

यह आत्माका सहज स्वाभाविक तेज सदा जयवन्त रहो। जिसने रागके अंधकारको मिटा दिया है जो मुनिवरोंके मनके गोचर है, सदा शुद्ध है, विषय सुखमें लीन पुरुषोंको दुर्लभ है, जो सर्वदा परम आत्मीक सुखका समुद्र है, तथा जिसने अपने शुद्ध ज्ञानके द्वारा मोह निद्राको नाश कर दिया है ॥ १११ ॥

आगे चौथा भेद भावशुद्धि नामकी जो परम आलोचना उसका स्वरूप कहते हुये शुद्धनिश्चय आलोचनाके अधिकारको संकोचते हैं—

मदमाणमायलोहवि,-वज्जियभावो दु भाव सुद्धित्ति ।
परिकहियं भव्वाणं, लोयालोयप्पदरिसीहिं ॥ ११२ ॥

भावार्थ—मद, मान, माया और लोभ इन चारों कषायोंसे रहित जो भाव है उसको भावशुद्धि कहते हैं। लोक और अलोकको देखनेवाले जो जिनेन्द्र भगवानने भव्य जीवोंके लिए ऐसा कहा है।

विशेषार्थ—तीव्र चारित्र मोहनी नामा कर्मके उदयके बलसे पुरुष वेद नाम नोकषायका जो विलास है उसको "मद" कहते हैं। यहां मद शब्दसे मदन अर्थात् काम सेवनेका परिणाम ऐसा अर्थ लेना चाहिये।

चतुर वचनोंकी रचना सहित प्रवीण और श्रेष्ठ कवितापनेके द्वारा आदेय नाम नामकर्मके उदयसे सर्व जनोंमें पूज्यपना पानेके कारणसे अथवा माता सम्बन्धी और पिता सम्बन्धी कुल जातिकी उज्वलतासे अथवा ब्रह्मचर्य व्रतके पालनेसे उत्पन्न जो पुण्य जिससे प्राप्त जो १ लाख कोटिभटके समान उपमा रहित बल होनेसे, अथवा दान पूजा आदि शुभकर्मोंके द्वारा उत्पन्न जो पुण्य उस पुण्यके उदयसे प्राप्त जो सम्पदा धनादिकी वृद्धि उसके विलाससे अथवा बुद्धि, तप, विक्रिया, औषध, रस बल तथा अक्षीण ऐसी सात ऋद्धियोंके होनेसे अथवा सुन्दर स्त्रियोंके लोचनोंको आनन्दकारी ऐसी शरीरकी सुन्दरतारूप रसके विस्तारसे आत्माके अहङ्कारका पैदा होना सो "मान" है।

गुप्त रीतिसे पाप कर लेना सो "माया" है। योग्य स्थलमें धनका व्यय नहीं करना सो लोभ है। निश्चयकरके सम्पूर्ण परिग्रहका त्याग है लक्षण जिसका ऐसा कर्मरूपी अञ्जनसे रहित अपने परमात्म तत्वको ग्रहण करनेके विरुद्ध अपनेसे अन्य परमाणु मात्र द्रव्यका स्वीकार करना सो "लोभ" है। इन चारों भावोंसे रहित जो शुद्ध भाव है वही भावशुद्धि है। इस प्रकार भव्य

भव्योंके लिए लोकालोक दर्शी, परम वीतराग सुखरूपी अमृतके
पानमें शूर श्री अर्हंत भगवानने कहा है।

टीकाकार कहते हैं कि जो कोई भव्यजीव सर्व तरफसे पर
भावको त्यागकर जिनेन्द्रके मार्गमें कहे हुये समस्त आलोचनाके
भेदरूप भावोंको देखकर तथा अपने आत्मस्वरूपको जानकर
तिष्ठता है वही जीव मोक्षरूपी स्त्रीका वर होता है। यथा शुद्ध
नयके आधीन ऐसी जो आलोचना है सो मुनियोंको शीघ्र
मोक्षमार्गके फलको देनेवाली है। यह आलोचना शुद्धात्म तत्वमें
निश्चित आचरणरूप है सो ऐसी आलोचना शुभ संयमीके लिए
निश्चयकरके कामधेनुके समान मनवांछित फलको देनेवाली होवे।
जो कोई मोक्षार्थी तीनलोकको जाननेवाले विकल्प रहित इस
शुद्ध तत्वको समझकर उस तत्वकी सिद्धिके लिए शुद्ध स्वभावमें
आचरण करता है वह भव्य जीव सिद्धिरूपी स्त्रीका स्वामी होकर
सिद्ध अवस्थाको प्राप्त करता है।

तत्वज्ञाता जितेन्द्री मुनियोंके हृदय-कमलकी केसरमें जो
शोभायमान है तथा जो आनन्दरूप, बाधारहित, विशुद्ध, काम
देवके बाणोंकी भयानक सेनाको जलानेके लिए दावानल अग्निके
समान है। जो शुद्ध ज्ञानरूपी दीपकके द्वारा मुनियोंके मनरूपी
घरमें फैले हुये घोर अंधकारको दूर करनेवाला, साधुओंसे
वंदनीक तथा संसार समुद्रके लंघनमें जहाजके समान है ऐसा जो
शुद्ध तत्व है उसको मैं वंदना करता हूं। जो तपस्वी बड़े बुद्धि
मान होनेपर भी दूसरेको कहते हैं कि इस नवीन पापको करो
तथा आप भी करते हैं क्या वे तपस्वी हैं? निश्चयसे वे तपस्वी
नहीं हैं। खेदकी बात है कि वे हृदयमें निवासरूप शुद्ध ज्ञानमई
अत्यंत श्रेष्ठ इस स्वरूप पदको जानकरके फिर भी संसार भावकी
अवस्थाको प्राप्त होते हैं।

उस स्वाभाविक तत्वकी जय होहु। जो तत्व सम्पूर्ण

अविनाशी अकुशलता रहित, सदा ही सुगम और प्रकाशमान है तथा जो सम्यग्दृष्टि जीवोंके लिए समताका घर है। अपनी परम कला सहित है। अपने उत्कृष्ट गुणोंके द्वारा वर्द्धमान है। सहज अवस्थामें प्रकाशित है तथा रात्रिदिन अपनी महिमामें लीन है। यह स्वाभाविक तत्त्व सात तत्त्वोंमेंसे सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है, परम निर्मल है, सब प्रकारसे निर्मल ज्ञानका घर है, आवरणोंसे रहित है, मोक्ष रूप है, शान्त व विशद (स्पष्ट) है, नित्य है, बाह्य प्रपंच आदिसे निरुद्ध है, मुनियोंके भी मन और वचनोंसे दूर है ऐसे तत्त्वको हम नमस्कार करते हैं।

उस जिन प्रभुकी जय होहु जो शास्त्ररूपमई अमृतके समुद्रको बढ़ानेके लिये प्रति दिन उदयरूप सुन्दर चन्द्रमाके समान है तथा तुलनारहित ज्ञानरूपी सूर्यकी किरणोंसे जिसने मोहरूपी अंधकारके समूहको नाशकर दिया है। जिसने जन्म जरा मरणके समूहको जीत लिया है, अत्यन्त भयानक रागके समूहका घात कर दिया है, पापरूपी महाअंधकारके समूहके नाशके लिये सूर्यके समान है तथा जो परमात्माके पदमें स्थित है उस महात्मा जीवको सदा जय होहु।

इस प्रकार सुकविरूपी कमलोंके लिये सूर्यके समान पंचेन्द्रियोंके विस्तारसे रहित शरीर मात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभमलधारी देव विरचित श्री नियमसार ग्रन्थकी तात्पर्यवृत्ति नामकी व्याख्यामें परमालोचना नामका सातवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।



८–निश्चयप्रायश्चित्ताधिकार

आगे सर्व द्रव्यभाव और नोकर्मके त्यागका कारणभूत जो शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त नामका अधिकार उसको कहते हैं—

वदसमिदिसीलसंजम,–परिणामो करणणिग्गहो भावो ।
सो हवदि पायछित्तं, अणवरयं चेव कायव्वो ॥ ११३ ॥

सामान्यार्थ—व्रत, समिति, शील और संयमका जो परिणाम तथा इन्द्रियोंके रोकनेका जो भाव उसका नाम प्रायश्चित्त है। सो ही निरन्तर करना योग्य है।

विशेषार्थ—अहिंसादि पांच महाव्रत, पांच समिति, शील और सर्व इन्द्रियोंके तथा मनवचनकायको संयम करनेका परिणाम और पांच इन्द्रियोंका निरोधरूप जो भावको परिणतिविशेष सो ही प्रायश्चित्त है। प्राय का अर्थ प्रचुरपने विकार रहित चित्त अर्थात् मन सो प्रायश्चित्त है।

सो प्रायश्चित्त मुझ पद्मप्रभकरके करना योग्य है। कैसा होकरके करना योग्य है, निरन्तर अन्तरंगमें लीन हो परम समाधियुक्त होकर, जितेन्द्री योगीश्वरकी दशामें रहकर तथा पापवनके दग्ध करनेको अग्नि समान भाव रखकर। तथा कैसा हूं मैं, पंचेन्द्रियके फैलावसे रहित शरीर मात्र परिग्रहका धारी हूं, स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि हूं तथा परमात्मकी सुगन्ध लेनेमें प्रमुख हूं।

यहां टीकाकार कहते हैं कि–मुनियोंके निरंतर अपने आत्माकी चिंता होना सो प्रायश्चित्त होता है। इसी करके पापोंको धोकर तथा अपने आत्माके स्वभावमें रत होकर मुनि
करते हैं। जो मुनि इसके सिवाय अन्य चिंता क

मूढ़बुद्धि पापी कामदेवके द्वारा पीड़ित होकर फिर भी पापको करते हैं यह एक आश्चर्यकी बात है।

आगे सब कर्मोंको उखाड़नेमें समर्थ जो निश्चय प्रायश्चित्त उसको कहते हैं—

कोहादिसगब्भाव, खयपहुदीभावणाए णिग्गहणं।
पायच्छित्तं भणिदं, णियगुणचिंता य णिच्छयदो ॥ ११४ ॥

सामान्यार्थ—क्रोधादि अपने विभाव भावोंके क्षय करने आदिकी भावनामें बर्तना तथा अपने आत्मीक गुणोंको चिंतवन करना सो निश्चयसे प्रायश्चित्त कहा गया है।

विशेषार्थ—क्रोधादि सर्व मोह राग द्वेष विभाव भावोंका क्षय करनेमें कारणभूत जो अपने कारण परमात्माके स्वभावकी भावना उसके होते हुए निज स्वभाव ग्रहणकी अपेक्षासे प्रायश्चित्त कहा गया है। अथवा परमात्माके गुणस्वरूप शुद्ध अंतरंग तत्त्वरूप जो अपना स्वभाव उसमें सहज ज्ञानादिक जो सहज गुण हैं उनको चिंतवन करना सो प्रायश्चित्त होता है।

टीकाकार कहते हैं कि अतिशयकरके मुनियोंका प्रायश्चित्त काम क्रोधादिक जो आत्माके अन्य भाव हैं उनके नाशके अर्थ अपने आत्मस्वभावका जानना अथवा उसकी भावना करनी सो ही है। *आत्मप्रवाद ग्रंथमें संतपुरुषोंने ऐसा ही माना है।

आगे चारों कषायोंके जीतनेका उपाय बतलाते हैं—

कोहं खमया माणं, समद्दवेणज्जवेण मायं च।
संतोसेण य लोहं जयदि खुए चउविहकसाए ॥ ११५ ॥

सामान्यार्थ—क्रोधको क्षमासे, मानको आत्मीक मार्दव भावसे, मायाको आर्जव धर्मसे तथा लोभको संतोषसे इस तरह ४ प्रकार कषायोंको योगी जीतता है।

विशेषार्थ—जघन्य मध्यम और उत्तम भेदसे क्षमा तीन प्रकार है। बिना कारण ही अनिष्टवादी मिथ्यादृष्टी मेरी निंदा करता है व त्रास देनेका उद्योग करता है परन्तु मेरे पुण्यके उदयसे यह कुछ न कर सका ऐसा जानकर क्षमा करना सो प्रथम जघन्य क्षमा है। बिना कारणके ही यह क्रोध मुझे त्रास करना और ताड़ना व बाधा देना चाहता है पर तु मेरे पुण्यके उदयसे यह मेरा कुछ बिगाड़ न करसका ऐसा जानकर क्रोध न करके क्षमा करनी सो दूसरी मध्यम क्षमा है। और यदि अपनेको बाधा व त्रास प्राप्त हो तो ऐसा विचारना कि मैं अमूर्तीक परम ब्रह्म स्वरूप हू मेरे शुद्ध स्वरूपको कुछ हानि नहीं होती है ऐसा ध्यानमें लेकर परम-समता रसके भावमें ठहर जाना सो तीसरी उत्तम क्षमा है।

इस प्रकार तीनों क्षमाओंसे क्रोध कषायको जीतकर तथा मार्दव भावरूप कोमल परिणामोंसे मानकषायको और कपट रहित आर्जव भावसे मायाको तथा परमतत्त्वका लाभरूप जो संतोष उसके द्वारा लोभ कषायको जीतना योग्य है।

ऐसा ही श्री गुणभद्रस्वामीने कहा है—

भावार्थ—हर (महादेव) ने अपने चित्तमें रहे हुए काम देवरूपी शत्रुको तो न पहिचाना और अपनी मूढ़तासे क्रोधकरके किसी बाह्य ही प्राणीको कामदेवकी बुद्धिसे दग्ध किया पश्चात् इसी ही कारणसे वह हर भयानक दु:खकी अवस्थाको प्राप्त हो गया—इस ही प्रकार क्रोधके उदयसे किस किसके कार्यकी हानि नहीं होती ? अर्थात् क्रोध सकल कार्योंको बिगाड़नेवाला है।

यह अन्य मतका दृष्टान्त लेके कहा है कि मह
हीसनेवाले किसीके ऊपर क्रोध करके उसे जला

अ तरंग काम वासनाको नहीं त्यागा जिससे भ्रष्ट हो ऋषियों द्वारा दुःख पाया अर्थात् उसका लिंग छेदा गया ॥ १ ॥

श्री ऋषभदेवजीके पुत्र श्री बाहुबलीजी और श्री भरतजीके जब युद्ध हुआ तब हारकर भरतजीने बाहुबलिपर चक्र चलाया, श्री बाहुबलि चरम शरीरी थे इससे उनके दक्षिण हाथपर आके वह चक्र बैठ गया उसी समय श्री बाहुबलीजीने उस चक्रको त्यागकर दीक्षा धारण कर ली। आचार्य कहते हैं कि उस समयके उत्कृष्ट भावोंसे वह उसी समय जीव मुक्त हो जाते परन्तु किंचित मानके कारण कि हम भरतजीकी पृथ्वीपर खड़े हैं उनको चिरकाल तक तप करना पड़ा पश्चात् जब मानको छोड़ा तब ही केवलज्ञानको प्राप्त किया। आचार्य कहते हैं कि मान [redacted] आत्माकी महान हानि करता है ॥ २ ॥

मिथ्यात्वके भयानक गाढ़ अन्धकारसे भरे हुए मायारूपी महागड्ढेके भीतर गिरनेसे भय करना चाहिये, क्योंकि जिस माया गर्तमें बैठे हुए क्रोधादि भयानक सर्प नहीं दिखलाई पड़ते हैं अर्थात् मायाचारीके क्रोधादि कषाय भीतर बैठे होते हैं। चमरी गाय भीलोंके भयसे भागतीर जाती है अकस्मात् उसकी पूछ वृक्षकी बेलमें फस जाती है-इसको अपने बालोंका बड़ा मोह होता है व बालोंके समूहमें लोलुपी रहकर इस भयसे [redacted] कहीं कोई बाल टूट न जाय, अपनी जड़ बुद्धिसे निश्चल खड़ी रह जाती है अपनी पूछको छुटाकर भागती नहीं है। आचार्य खेद करते हैं कि इस लोभके कारण वह बिचारी भीलके द्वारा हती गयी जो लोभकी परिणति रखते हैं उनको प्रायः इसी प्रकारकी विपत्तियां नानाप्रकारकी आ जाती हैं।

टीकाकार कहते हैं [redacted] क्रोधकषायको क्षमासे, मानकषायको मार्दवसे, आर्जवसे मायाको तथा लोभकषायको संतोषसे जीतना चाहिये।

आगे शुद्ध ज्ञानका स्वीकार करना ही प्रायश्चित है ऐसा कहते हैं—

उक्किट्ठो जो बोहो, णाण तस्सेव अप्पणो चित्त।
जो धरइ मुणी णिच्च, पायच्छित्त हवे तस्स ॥ ११६ ॥

सामान्यार्थ—अपने ही आत्माका जो उत्कृष्ट बोध, ज्ञान तथा चित्त है उसको जो कोई मुनि नित्य धारण करता है उसके ही प्रायश्चित होता है।

विशेषार्थ—उत्कृष्ट जो विशिष्ट धर्म है वही परम बोध है। बोध ज्ञान और चित्त तीनोंका एक ही अर्थ है। अतएव उसी परम धर्मके धारी आत्माका भाव अर्थात् प्रत्यक्ष जो चित्त अर्थात् ज्ञान सो प्रायश्चित है। जो कोई परमसंयमी नित्य इस प्रकारके चित्तको धारण करता है उसीके ही निश्चय प्रायश्चित होता है।

टीकाकार कहते हैं कि—जो कोई शुद्धात्मज्ञानकी भावनाको रखनेवाला आत्मा है सो ही प्रायश्चित स्वरूप धारी है। जिसने पापके समूहको दूर कर दिया है ऐसे मुनीन्द्रको मैं नित्य उनके गुणोंकी प्राप्तिकेलिये वन्दना करता हूं।

आगे कहते हैं कि इस लोकमें परम तपश्चरणमें लीन जो परम योगीश्वर हैं उनहीके निश्चय प्रायश्चित होता है यही समस्त आचरणोंमें श्रेष्ठ आचरण है—

किं बहुणा भणिएण दु, वरतवचरणं महेसिणं सव्व।
पायच्छित्त जाणह, अणेयकम्माण खयहेऊ ॥ ११७ ॥

सामान्यार्थ—बहुत क्या कहें। महर्षियोंका सर्व उत्कृष्ट तप आचरण एक प्रायश्चितको ही जानो जो अनेक कर्मोंके नाशका कारण है।

विशेषार्थ—आचार्य कहते हैं कि बहुत अधिक प्रलाप कहनेसे बस होओ। निश्चय व्यवहाररूप एवं उत्कृष्ट तपश्चरण एक निश्चय प्रायश्चित्तको ही हे शिष्य! तुम जानो। यह परम जितेन्द्रिय योगियोंके लिये अनादि संसारमें बांधे हुए द्रव्यकर्म और भावकर्म उनको सर्व प्रकारसे विनाश करनेका कारण है।

टीकाकार कहते हैं कि अनशनादि बारह तपरूप आचरण यही आत्माका सहज-स्वाभाविक तत्त्व है। यही शुद्ध चैतन्य स्वरूपको जाननेवाला है। यही स्वाभाविक ज्ञानकी कलाके गोचर है तथा यही पापोंको क्षय करनेका कारण है। यह प्रायश्चित्त निश्चयसे उत्तम साधु पुरुषोंको ही होता है। कैसा है यह प्रायश्चित्त, जो अपने आत्मीक द्रव्यमें निश्चल स्वरूप है तथा धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप है। कर्मोंके अन्धकारको विनाश करनेके लिये सम्यग्ज्ञानरूपी तेज है तथा जो अपनी विकाररहित महिमामें लीन है।

यती साधुओंको आत्मज्ञानसे ही क्रमक्रमसे आत्माकी प्राप्ति होती है और ज्ञान ज्योति प्रगट होती है। कैसी है ज्ञान ज्योति, जिसने इन्द्रियोंके विषयरूप प्रामके घोर अन्धकारको हनन कर दिया है तथा कर्मरूपी जंगलसे उत्पन्न जो दावानलकी शिखा उसको बुझानेके लिये शांत अमृतमई अमृतकी धाराको शीघ्र बरसा रही है।

अध्यात्म शास्त्ररूपी समुद्रसे मैंने इस संयम रूपी रत्नमालाको निकाला है यही निश्चय संयमरूपी रत्नमाला मुक्ति-वधूके वर ऐसे जो तत्त्व ज्ञाता उनके सुकंठको सुशोभित करनेवाली हो गई है, मैं नित्य इस परमात्म तत्त्वको नमस्कार करता हूं। जो मुनीन्द्रोंके चित्तरूपी कमलका गम्भवास है, मोक्षके अतीन्द्रिय सुखका मूल है तथा जिसने संसाररूपी वृक्षके मूलको नष्ट कर दिया है।

आगे कहते हैं कि प्रसिद्ध ऐसा शुद्ध जो कारण समयसार परमात्मतत्त्व उसमें सदा अंतरंगसे लीन होकर जो तप तपना है वही तप प्रायश्चित्त है—

णताणतभवेण स,-मज्जिअसुहकम्मसंदोहो ।
तवचरणेण विणस्सदि, पायच्छित्तं तवं तम्हा ॥ ११८ ॥

सामान्यार्थ—अनंतानंत भवोंके द्वारा जो इस जीवने शुभ तथा अशुभ कर्मोंके समूहको उत्पन्न किया है सो सर्व कर्मजाल तपश्चरण करके नाशको प्राप्त होता है। इसलिये ऐसा तप ही प्रायश्चित्त है।

विशेषार्थ—अनादिकालसे संसारमें भ्रमते हुए जो शुभ तथा अशुभ कर्मोंका समूह इस जीवने पैदा किया है सो द्रव्यरूप पुद्गलकर्म तथा रागद्वेषादि भावकर्म जो द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पांच प्रकार संसारका बढ़ानेवाला है सो सर्व भावशुद्धि लक्षणके धारी परम तपश्चरणके द्वारा विलयको प्राप्त हो जाता है। इसलिये अपने आत्मिक तत्त्वमें रमनरूप जो परम तपश्चरण सो ही शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त है ऐसा प्रयोजन है।

टीकाकार कहते हैं—अष्ट कर्मोंके जालको नष्ट करनेके लिये संत पुरुषोंने ऐसे तपके सिवाय और किसीको प्रायश्चित्त नहीं कहा है। कि जो तप चैतन्यके आनंदरूपी अमृतसे पूर्ण है तथा जो अनादि संसारमें संग्रह किया ऐसा महान कर्मरूपी वन उसके दग्ध करनेके लिये अग्निकी ज्वालाका समूह है और जो शमसुखमई तथा मोक्षरूपी लक्ष्मीका दहेज है।

आगे कहते हैं कि सम्पूर्ण विभावभावोंको अभाव करनेके लिये अपने आत्माहीके आश्रयसे उत्पन्न जो निश्चय धर्मध्यान

अप्पसरूवालंवण, भावेण दु सव्वभावपरिहारं ।
सक्कदि कट्टु जीवो, तम्हा झाण हवे सव्व ॥ ११९ ॥

सामान्यार्थ—यह जीव अपने आत्मिक स्वरूपके आलंबनमें तन्मय जो भाव उसीसे सर्व अन्यभावोंको त्यागनेको समर्थ हो जाता है। इसलिये सर्व प्रायश्चित्तादि ध्यान ही होता है।

विशेषार्थ—निश्चयरूपसे परद्रव्यका त्याग है लक्षण जिसका ऐसे स्वभावसे उदित जो अखंड नित्य आवरण रहित ऐसा जो स्वाभाविक परम पारिणामिक भाव उसकी ही भावना करनेसे यह अत्यन्त निकटभव्य जीव औदयिक औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक, ऐसे अपने शुद्ध स्वरूपसे अन्य चारों भावोंको त्यागनेके लिये समर्थ हो सकता है। इसी कारणसे उसी जीवके ऐसे भावको पापरूपी वनीके जलानेके लिये अग्निसमान कहा गया है। अतएव पांच महाव्रत, पांच समिति, तीन गुप्ति, ऐसे १३ प्रकार चारित्र तथा प्रत्याख्यान, प्रायश्चित्त, और आलोचना आदि सर्व ध्यानमें ही गर्भित हैं।

टीकाकार कहते हैं—जो कोई भव्यजीव शुद्धात्मामें अपना मन निश्चल करके एक शुद्ध आत्माको ही ध्याता है किस प्रकार ध्याता है, कि यह आत्मा एक है नित्य अपनी ज्योतिकरके मोह अंधकारके समूहको नाश करनेवाला है, आदि और अंतसे शून्य है, परमकलासे विराजमान है तथा आनंदकी मूर्ति है वह जीव शीघ्र ही जीव मुक्त अर्थात् अरहंत हो जाता है। और यही जीव समस्त आचारका प्रतिपादक है।

आगे शुद्ध निश्चयस्वरूपका व्याख्यान करते हैं—

शुद्धअसुद्धवयणरयण, रायादीभाववारण किचा ।
अप्पाणं जो झायदि, तस्स दु णियम हवे णियमा ॥१२०॥

सामान्यार्थ—जो कोई शुभ और अशुभ वचनोंकी रचनाको दूरकर तथा रागद्वेषादि भावोंको हटाकर आत्माको ध्याता है उसीके ही नियमसे नियम होता है।

विशेषार्थ—जो कोई परम तपश्चरण ही महा प्रयोजन प्रतिदिन स्वयं किये गए जो सूक्ष्मकर्म पंक नष्ट करनेमें समर्थ जो निश्चय प्रायश्चित्त उसमें लीन रहता है तथा जो मुनि मन वचन कायको रोककरके संसाररूपी बेलके मूलरूप जो शुभ तथा अशुभरूप प्रशस्त और अप्रशस्त समस्त वचनकी रचनाको दूर करता है, केवल इन वचनोंहीका तिरस्कार नहीं करता किंतु समस्त मोह रागद्वेष आदि पर भावोंको भी दूर करता है फिर निरंतर अखंड अद्वैत, सुन्दर आनंदसे भरपूर अनुपम तथा कर्मांजन रहित अपने कारण परमात्मतत्त्वको नित्य अपने शुद्धोपयोगके बलसे बारंबार भावता है उसी ही यमी मनुष्यके शुद्ध निश्चयनय करके नियम होता है। यह अभिप्राय भगवान सूत्रकारका है।

टीकाकार कहते हैं कि—जो कोई भव्यजीव शुभ तथा अशुभरूप वचनकी रचनाको त्यागकरके नित्य प्रगटपने स्वभावमई परमात्माको भले प्रकार भावता है उसी ही परम जितेन्द्री और ज्ञानी मुनिके नियमसे यह शुद्ध नियम होता है तथा यही नियम मुक्तिरूपी स्त्रीके सुखका कारण है। निरंतर अखंड अद्वैत चैतन्यके विकार रहित स्वरूपमें संपूर्ण नयोंका विलास कुछ भी प्रगट नहीं होता है। जिसमें सब भेदवादोंका विलय हो गया है ऐसे तत्त्वको मैं सदा नमस्कार करता हूं, उसीकी स्तुति करता हूं तथा उसीकी बारबार भावना करता हूं। यह ध्यान है, यह ध्येय है, यह ध्याता है, यह ध्यानका फल है इन विकल्प जालोंसे रहित जो तत्त्व है उसीको मैं नमन करता हूं।
योगमें लीन योगीके कभी २ भेदवाद उठाकरते
। प्राप्त करता है उसको आर्हतक

होगी या नहीं कौन जानता है।

भावार्थ—मुक्तिका कारण तो एक निर्विकल्प ध्यान ही है जहां विकल्प हैं वहां बंध है।

आगे निश्चय कायोत्सर्गका स्वरूप कहते हैं—

कायाइपरदव्वे, थिरभाव परिहरत्तु अप्पाण।
तस्स हवे तणुसग्ग, जो झायइ णिव्वियप्पेण ॥ १२१ ॥

सामान्यार्थ—काय आदि पर द्रव्यमें स्थिर भावको दूर करके जो कोई विकल्परहित होकर अपने आत्माको ध्याता है उसीके ही कायोत्सर्ग होता है।

विशेषार्थ—आदि और अंत सहित मूर्तीक अपनी आत्म जातिसे भिन्न विभाव व्यंजन पर्यायरूप अपने शरीरका जो आकार है वो काय है। आदि शब्दसे क्षेत्र, मकान, सुवर्ण, आदि लेना। इन सब विनाशीक पदार्थोंमें स्थिर भावको अर्था ये सदा रहेंगे ऐसे भावको त्यागकरके नित्य ही मनोहर कर्मरूप मैलसे रहित अपने स्वभावमई कारण परमात्माको जो नि व्यवहार क्रियाकांडके आडंबर सहित जो नानाप्रकार विकल्प उनसे पूर्ण कोलाहल (शोर-गुल) उससे रहित ऐसा जो स्वाभावि परम योग उसके बलसे ध्याता है उसी ही तपस्वीके निश्च कायोत्सर्ग होता है।

ऐसा है तपस्वी, जो स्वाभाविक तपश्चरणरूपी क्षीरसमुद्र मदानेकहिये चंद्रमाके समान हृदयका ईश्वर है तथा निश्चयकार स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि है।

टीकाकार कहते हैं कि—यह निश्चय कायोत्सर्ग निश्चयसे अप आत्मामें लीन संयमी मुनियोंके ही निरंतर अपने आत्मध्यान ही होता है। ऐसा है आत्मध्यान, जहां शरीरसे उत्पन्न

प्रत्यक्षरूपसे प्रगट होते हुए कर्म बंधसे मुक्तरूप है अर्थात् कायकी, क्रियारहित है, वचनोंके आडंबर समूहसे विरक्त है तथा मन सम्बन्धी भावोंसे भी अलग है।

इस स्वाभाविक परमतत्वकी जय होहु। जो अपने सहज तेजके पुंजमें मग्न होकर प्रकाशमान है जिसने मोह अंधकारको हटा दिया है, जो स्वाभाविक परमदर्शनसे परिपूर्ण है तथा वृथा ही उत्पन्न जो संसार तथा जो भव भवके दुःख और कल्पना तिनसे मुक्त है।

संसारके जो सुख हैं वे एक तो अल्प अर्थात् थोड़े हैं। दूसरे कल्पना मात्र अर्थात् अपनी मानी हुई बुद्धिसे ही रमणीक (अच्छे) मालूम होते हैं ऐसे सब सुखको मैं अपनी आत्मीक शक्तिसे त्यागता हूं तथा स्वाभाविक परम सुखरूप चैतन्यके चमत्कार मात्र प्रगट अपने चिदानंदमई आत्मतत्वको सदा अनुभव करता हूं।

आचार्य कहते हैं कि मेरे हृदयमें स्फुरायमान जो समाधिमई निज आत्मीक गुणोंकी संपदा उसको मैंने इस कालसे पूर्व क्षण मात्र भी मैंने नहीं जाना। बड़े खेदकी बात है, मैंने तीन जगतकी अद्भुत विभूतिको क्षय करनेवाले दुष्ट कर्मोंकी प्रभुताईके वशसे इस महासंसारमें अत्यन्त ठगा गया अर्थात् खेद उठा चुका हूं। भवभवके विषमई वृक्षोंके सम्पूर्ण दुःखके कारण फलोंको त्यागने योग्य जानकर मैं चैतन्यस्वरूप आत्मामें उत्पन्न जो विशुद्ध सुख उसीको अनुभव करता हूं।

इस प्रकार सुकविरूपी कमलोंके लिये सूर्यके समान पंचेंद्रियके
प्रसारसे रहित गात्रमात्र परिग्रहधारी श्री पद्मप्रभमलधारीदेवसे
विरचित नियमसार ग्रन्थकी तात्पर्यवृत्ति नाम टीका
जिसमें शुद्ध निश्चय प्रायश्चित्त-अधिकार आठवां
श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ ॥८॥

९—परमसमाधि-अधिकार

आगे सम्पूर्ण मोह रागद्वेष आदि परभावोंको नाश करनेका कारण मूल जो परमसमाधि नाम अधिकार उसको कहते हैं। यहां प्रथम ही शुद्धनिश्चय परमसमाधिका व्याख्यान करते हैं—

वयणोच्चारणकिरियं, परिचत्ता वीयरायभावेण ।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥ १२२ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई अपने वीतराग भावसे वचनोंके बोलनेकी क्रियाको त्याग करके अपने आत्माको ध्याता है उसीके ही परम समाधि होती है।

विशेषार्थ—परम जिन योगीश्वर भी कभी अपनी अशुभ प्रवृत्तिको हटानेके लिये वचन रचनासे मनोज्ञ ऐसे परम वीतराग सर्वज्ञ देवकी स्तुति करते हैं। तो भी निश्चयसे योगीश्वरको शुभ अशुभ वचनोंका व्यापार नहीं करना योग्य है।

अतएव प्रमाद वचनकी रचनाको त्याग करके सर्व कर्मरूपी कलंककी कीचड़से रहित हो अपने रागद्वेष भावोंको हटानेवाले ऐसे परम वीतराग भावके द्वारा तीनों कालोंमें आवरणरहित नित्य ही शुद्ध कारण परमात्माको अपना ही आत्माका है आश्रय जिसको ऐसे निश्चय धर्मध्यानके बलसे अथवा टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावमें लवलीन ऐसा जो परम शुक्ल ध्यान उसके बलसे जो कोई परम वीतरागस्वरूप तपश्चरणमें लीन, रागरहित संयमी ध्याता है उसी साधुके निश्चयसे परम समाधि होती है। कैसा है साधु, जो द्रव्यकर्म और भावकर्मकी सेनाको लूटनेवाला है।

टीकाकार कहते हैं कि—किसी अपूर्व समाधिके द्वारा उत्तम ~के हृदयमें प्रगट होनेवाली समताके साथ-साथ रहनेवाली

जो स्वाभाविक आत्मीक सम्पदा उसको जबतक हम लोग नहीं जानते तबतक यह समाधि हमारा विषय नहीं है ऐसा हम मानते हैं। अर्थात् समाधिका काम कठिन है।

आगे समाधिका स्वरूप कहते हैं—

संजमणियमतवेण दु, धम्मज्झाणेण सुक्कझाणेण ।
जो झायइ अप्पाणं, परमसमाही हवे तस्स ॥ १२३ ॥

सामान्यार्थ—संयम नियम और तपके द्वारा धर्मध्यान अथवा शुक्लध्यानसे जो आत्माको ध्याता है उसीके ही परम समाधि होती है।

विशेषार्थ—सब इन्द्रियोंके व्यापारका त्यागना सो संयम है। अपने आत्माकी आराधनामें नियमसे लवलीन रहना सो नियम है। आत्माको आत्माके द्वारा धार आप सो ही आध्यात्मिकता है।

सर्व क्रियाकांडके आडम्बरका है त्याग जहां ऐसे अन्तरंग क्रियाके आधाररूप आत्माको जो मर्यादारहित तथा तीनों कालोंमें कर्मोंकी उपाधि अर्थात् आवरण रहित स्वरूप जानता है उस ज्ञानकी जो परिणति विशेष है वही अपने आत्माके आश्रयमें तिष्ठनेवाला निश्चय धर्मध्यान है। अर्थात् आत्मस्वरूपका यथार्थ ज्ञान होकर स्वरूपके ज्ञानमें निश्चलता सो ही निश्चय धर्मध्यान है। जहां ध्यान, ध्येय, ध्याता और ध्यानके फलको आदि ले नाना प्रकारके विकल्प नहीं हैं तथा जो सम्पूर्ण विकार संकल्पोंको आदि ले इन्द्रियोंके विषयोंसे अगोचर आत्मिक परम तत्त्वका निश्चलस्थितिरूप है वही निश्चय शुक्ल ध्यान है। इत्यादि विशेष सामग्रियोंके साथ जो कोई परम संयमी अखण्ड अद्वैत परम चैतन्यमई आत्माको नित्य ध्याता है उसीके निश्चयसे [illegible] परम समाधि होती है।

टीकाकार कहते हैं—कि जो कोई चेत यमई निर्विकल्प समाधिमें नित्य ठहरता है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूं। कैसा है आत्मा, जो द्वैत और अद्वैतके विकल्पोंसे रहित है।

आगे कहते हैं कि जो कोई समताभावके बिना केवल द्रव्यरूप बाह्यलिंग अर्थात् चिह्नको धारनेवाला द्रव्यलिंगी श्रमण मात्र है अर्थात् यथार्थमें मुनि नहीं परन्तु मुनि सदृश मालूम होता है उसके मोक्षका कुछ भी उपाय नहीं है—

किं काहदि वणवासो, कायकलेसो विचित्तउववासो।
अज्झयणमोणपहुदी, समदारहियस्स समणस्स ॥ १२४ ॥

सामान्यार्थ—जो श्रमण (दिगंबर मुनि) समताभाव रहित है उसको वनवास, अथवा कायक्लेश व नाना प्रकारके उपवासोंका करना व शास्त्रपठन तथा मौनव्रत यह सब ही क्या कर सकते हैं? अर्थात् मोक्षके साधनको करनेमें असमर्थ है।

विशेषार्थ—सर्व कर्मकलंकरूपी कीचसे रहित महानन्दका कारण यह परम समताभाव है। यदि यह भाव न हो और केवल द्रव्यलिंगधारी श्रमणाभास वनमें वास करे व वर्षाकालमें वृक्षके नीचे ठहरे, गर्मीमें प्रचण्ड तीव्र किरणोंसे सतप्त पर्वतके शिखर पर बैठकर आसन लगावे, अथवा शीतऋतुमें रात्रिके मध्यमें दिशाओंके ही वस्त्र लिये अर्थात् चौड़े मैदानमें बैठ नग्नावस्थामें रह ध्यान लगावे, त्वचा और हड्डीको दिखलानेवाला व सर्व अंगको क्लेश देनेवाला उपवास महोपवास करे। व सदा शास्त्र पढ़नेमें ही चतुर हो अथवा वचनोंके व्यापारको त्याग कर सदा मौनव्रत ही धारण करे तो भी उसे कुछ भी मोक्षके कारणभूत फलकी प्राप्ति नहीं है।

भावार्थ—समताभावके साथमें तो ये सर्व उपादेय हैं परन्तु

समताभावरहित जीवके इनसे कोई भी प्रशंसा योग्य फलका लाभ नहीं है। ऐसाही श्री अमृताशीति ग्रंथमें कहा है —कि पर्वतकी भयानक गुफाओंमें, वनमें, व दूसरे किसी शून्य प्रदेशमें बैठनेसे, इन्द्रियोंके रोकनेसे, ध्यानसे, व तीर्थोंकी यात्रासे, पढ़नेसे, अथवा जपहोम करनेसे ब्रह्मकी सिद्धि नहीं है। इसलिये हे भाई तू उत्कृष्ट रूप, इन सबसे अन्य, अपने आत्माके भावको ही ढूंढ।

टीकाकार कहते हैं—कि जो यति समता भावसे रहित हो अनशनादि द्वादश तपोंको करता है उसके कार्यकी सिद्धि नहीं है। इसलिये हे मुनि! तू आकुलतासे रहित समतादेवीका जो कुलमंदिर ऐसा जो अपना आत्मीक तत्व उसीका ही भज कर।

आगे कहते हैं कि जो मुनि सब पापरूप व्यापारसे रहित हो मनवचन कायकी गुप्तिमें गुप्त हो एवं इन्द्रियोंके व्यापारोंको छोड़कर अपने आत्माके सन्मुख होता है उसीके ही सामायिकव्रत स्थायी (टिकनेवाला) होता है —

विरदो सव्वसावज्जे, तिगुत्तीपिहिदिंदिओ।
तस्स सामाइगं ठाइ, इदि केवलिसासणे ॥ १२५ ॥

सामान्यार्थ—जो सब सावद्य अर्थात् पापरूप क्रियाओंसे विरक्त हो तीन गुप्तियोंको धारके अपनी इन्द्रियोंको रोकता है उसीके ही सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवली भगवानके आगममें कहा है।

विशेषार्थ—जो कोई महा मुमुक्षु मुनि एकेन्द्रिय आदि प्राणियोंके समूहोंको दुःखदेनेका कारण जो सम्पूर्ण पाप एवं व्यापार उससे अलग होकर शुभ अशुभ एवं काय वचन और व्यापारोंको [illegible] तीन गुप्तरूप होता है तथा स्पर्शन, घ्राण, चक्षु [illegible] इन पांच इन्द्रियोंके सन्मुख हो उनके

जो विषय करनेवाले पदार्थ उनको ग्रहण न करके जित ही रहता है उसी ही परम वीतराग संयमीके यह सामायिक व्रत शाश्वता सदा रहनेवाला होता है।

टीकाकार कहते हैं कि—इस प्रकार संसारके भयको करनेवाली सब पापकी राशिको त्यागकर तथा मन वचन कायके रात्रि दिनके विकारोंको नाशकरके जो कोई जीव अंतरंग शुद्ध अपनी परम ज्ञान ज्योतिको सदा उसके साथ एक आत्माको ही अनुभव करता है वही मुनि स्थिर और समतामई शुद्ध आत्मिक स्वभावको प्राप्त करता है।

आगे परम माध्यस्थ भावादिमें आरूढ जो परम मुमुक्षु उसका स्वरूप कहते हैं —

जो समो सव्वभूदेसु, थावरेसु तसेसु वा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२६ ॥

सामान्यार्थ—जो सर्व त्रस और स्थावर प्राणियोंमें समता मात्र रखता है उसीके ही सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके आगममें कहा है।

विशेषार्थ—जो स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि है और विकारोंके कारण जो सर्व मोह राग द्वेष आदि भाव उनके अभावसे तथा भेदकल्पना रहित परम समरसी भावका स्वामित्व रखनेसे जो सर्व त्रस और स्थावर जीवोंमें सम है अर्थात् द्वेषरहित समदर्शी है उसी ही परम जिनयोगीश्वरके सामायिक नामका व्रत सनातन व्रत होता है। ऐसा वीतराग सर्वज्ञके आगममें सिद्ध है।

टीकाकार कहते हैं कि—परम जितेन्द्री मुनियोंका चित्त त्रस हतिसे मुक्त है तथा स्थावर जीवोंके वधसे भी अतिशयकरके भिन्न है। कर्मोंसे मुक्त होनेके लिये ऐसा जो निर्मल मुनियोंका चित्त

अन्तिम शुद्ध अवस्थाको प्राप्त है उसीको मैं नमन करता हूं, स्तुति करता हूं तथा उसीकी भावना करता हूं।

कोई जीव अद्वैत मार्गहीमें स्थित हैं, कोई द्वैत मार्गमें लीन हैं परन्तु हम द्वैत और अद्वैतसे रहित एसे आत्मामें ही वर्तन करते हैं। कोई अद्वैतको तथा कोई द्वैतको चाहते हैं परन्तु मैं द्वैत, अद्वैतसे रहित आत्माको ही नमन करता हूं।

मैं आत्मा हूं सुखका चाहनेवाला हूं इससे मैं अपने आत्माहीमें ठहरकर आत्मादीक्षा द्वारा जन्म और मरणसे मुक्त ऐसे अपने आत्माको ही वारंवार भावता हूं।

संसारके बढ़ानेवाले उन विकल्पोंके वचनोंसे पूरी पड़ो अर्थात् इनसे कुछ भी सिद्धि न होगी-यह आत्मा दुःखरहित आनन्दमई सब नयोंके समूहोंका विषय नहीं है, न यह द्वैत तथा अद्वैतरूप है इसलिये मैं उसी प्रभुको बिना विकल्पके सदा ही अपने संसारके भयको नाश करनेकेलिये वन्दना करता हूं।

इस जन्ममें पापपुण्यके समूहसे उत्पन्न सुख और दुःख होता है। जिस आत्मामें न तो शुभभाव न अशुभ परिणति है, जो सबके परिश्रम आवरणरहित तथा सबके करनेवाले औगुणोंके समूहोंसे विमुक्त है उसी आत्माको मैं नमस्कार करता हूं।

इस जगतमें नित्य ही यह चेतन तथा चमत्कार मात्र स्वरूप अवश्य हो। कैसा है स्वरूप, जो पापकी सेनाकी श्रेणीको हरनेवाला है, जिसने अपने स्पष्ट स्वाभाविक तेजसे पापोंके समूहोंको दूरकर दिया है तथा अत्यन्त प्रबल मोह अन्धकार नाश किया है और जो अत्यन्त शुद्ध है।

यह पापरहित आत्मीक तत्त्व अवश्य प्राप्त होवे। जिसने समस्त संसारको नाश कर दिया है, जो महामुनिगणोंके नाथ जो परम योगीश्वर उनके हृदयमें कमलके समान स्थित है, सकल कारणोंको जिसने विध्वंस करडाला है, जो अत्यन्त शुद्ध

है। इसप्रकारसे सदा अपनी महिमामें लीन है तो भी सम्यग्दृष्टियोंके अनुभव गोचर है।

आगे कहते हैं कि आत्मा ही उपादेय है—

जस्स सण्णिहिदो अप्पा, संजमे णियमे तवे।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे॥ १२७॥

सामान्य अर्थ—जिसके संयम पालते, नियम करते व तप करते एक आत्मा ही निकटवर्ती है उसीके सामायिक स्थायी होती है ऐसा केवलीके आगममें कहा है।

विशेषार्थ—जो निश्चय करके बाह्य प्रपंचोंसे अलग है, जिसने सब इन्द्रियोंके व्यापारोंको जीत लिया है, जो भावी जिन है ऐसा मुनि सब पापक्रियाओंके त्यागरूप बाह्य संयममें तथा मन वचन कायकी गुप्ति सहित सब इन्द्रियोंके व्यापारसे वर्जित हो अभ्यंतर आत्मरूप संयममें तिष्ठता है तथा किसी मर्यादारूप बांधे हुए कालतक किसी आचरणको करना है स्वरूप जिसका ऐसे नियममें रहता है तथा परमब्रह्म चैतन्यमई निज निश्चय अंतरंग लीन और स्वरूपमें अविचल स्थितिरूप चारित्रमें व व्यवहारनयके आधीन दर्शन, ज्ञान चारित्र, तप और वीर्य ऐसे पांच आचाररूप पंचमगति जो मोक्ष उसके कारणभूत चारित्रमें वर्तता है और समस्त भावोंके प्रपंचोंसे रहित तथा सकल दुराचारकी निवृत्तिका जो कारण ऐसे तपश्चरणमें तन्मय होता है, उसी ही मुनिके परमगुरुके प्रसादसे प्राप्त जो निरंजन निज कारण परमात्मा सो सदा निकट ही रहता है।

भावार्थ—यह मुनि इसप्रकार संयम, नियम और तपमें परमात्माको शुद्धतासे भावता है। यह ही परद्रव्योंसे पराङ्मुख अर्थात् विशुद्ध, परमवीतराग सम्यग्दृष्टी तथा वीतराग चारित्रवान मुनिके सामायिक व्रत सदा तिष्ठनेवाले होता है ऐसा कथन केवली महाराजके आगममें कहा है।

टीकाकार कहते हैं कि—यदि मनमें शुद्ध सम्यग्दर्शन होता है तो यह आत्मा निश्चय ही परम संयमके धारी मुनियोंके तपमें, नियममें, संयममें तथा सम्यक्चारित्रमें अतिशयसे विराजता है। ऐसे ही समता रागको मनोहरताको प्राप्त करनेवाले तथा संसारके भयको हरनेवाले आगामी तीर्थंकरपद प्राप्त करनेवाले आत्मामें वह स्वाभाविक समता साक्षात् शोभती है।

आगे कहते हैं कि रागद्वेषके अभावसे अपरिस्पन्दरूपपना अर्थात् हलन चलन रहितपना प्राप्त होता है—

जस्स रागो दु दोसो दु, विगडिं ण जणेति दु।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२८ ॥

सामान्यार्थ—जिसके रागद्वेष विकार नहीं पैदा होते हैं उसीके सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवलीके आगममें कहा है।

विशेषार्थ—जो परमवीतराग संयमी पापरूपी वनके जलानेको अग्निके समान हैं उनके न तो राग और न द्वेषका विकार पैदा होता है ऐसे ही महा आन रुके चाहनेवाले जीवके तथा पंचेन्द्रियोंके फैलाव रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी मुनिके सामायिक व्रत शाश्वत अविनाशी होता है ऐसा कथको भगवानके शासनमें प्रसिद्ध है।

टीकाकार कहते हैं कि रागद्वेष विकारोंको करनेके लिये महामुनि समर्थ नहीं हैं (?)। जिसने अपनी ज्ञानज्योतिसे पापरूपी सेनाका घोर अंधकार दूर कर दिया है, जो स्वाभाविक परमानन्दरूपी अमृतसे पूर्ण है तथा नित्यही समताके रससे भरपूर है ऐसे मुनिके लिये विधि और निषेधकी कौनसी गति है? अर्थात् रागद्वेष हैं व नहीं यह विकल्प ही नहीं उठ सकता।

आगे कहते हैं कि आर्त रौद्रध्यानके त्यागसे ही सनातन सामायिक व्रत होता है—

जो दु अट्टं च रुद्दं च, झाणं वज्जेदि णिच्चसो ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १२९ ॥

सामान्यार्थ—जो नित्य आर्त्त और रौद्र ध्यानोंको हटाता है उसीके सामायिक व्रत स्थायी होता है ऐसा केवली महाराजके आगममें कहा है ।

विशेषार्थ—जो कोई जीव नित्य निरंजन निज कारण समयसार स्वरूपमें स्थिर रह निश्चय परम वीतराग सुखरूपी अमृतके पान करनेमें लवलीन है वह जीव तिर्यंचयोनि तथा नरक आदि गतिको प्राप्त करानेका निमित्त जो आर्त्त और रौद्र दोनों ध्यान उनको नित्य ही त्यागता है । उसीके निश्चयकरके केवल दर्शन भावी द्वारा सिद्ध किया हुआ शाश्वत सामायिक व्रत होता है ।

टीकाकार कहते हैं कि—जो मुनि नित्य आर्त्त और रौद्र ध्यानोंको त्यागता है उसीके सामायिक व्रत होता है तथा उसी श्रावकके यह सामायिक अणुव्रतरूप होता है, ऐसा जिन शासनमें सिद्ध है ।

आगे शुभ तथा अशुभ परिणामोंसे उत्पन्न जो पुण्य और पाप कर्म उनके त्याग करनेका विधान बतलाते हैं —

जो दु पुण्णं च पावं च, भावं वज्जेदि णिच्चसा ।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३० ॥

सामान्यार्थ—जो कोई नित्य पुण्य और पाप भावोंको त्यागता है उसीके सामायिकव्रत स्थायी होता है ऐसा केवली महाराजके आगममें कहा है ।

विशेषार्थ—जो बाह्य और अभ्यंतर परिग्रहको त्याग करना है लक्षण जिसका, ऐसे लक्षणसे जो लक्षित (चिह्नित) हैं ऐसे परम जितेंद्री जिन योगीश्वरोंके चरण कमलोंका धोना सवारना आदि वैयावृत्य अर्थात् सेवा करना उससे पैदा हुई जो आत्माकी

शुभ परिणति विशेष उसमें उत्पन्न हुआ जो, पुण्यकर्म तथा हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म तथा परिग्रह इन पांचों पापोंके परिणामोंसे पैदा हुआ जो अशुभ कर्म इन दोनों पुण्य और पापोंका कोई स्वाभाविक वैराग्यरूपी महलके शिखरका शिखामणि है सो त्याग देता है। कैसे हैं ये दोनों कर्म जो संसाररूप स्त्रीके विलासके विभ्रमकी जन्मभूमि हैं अर्थात् इन्हीं कर्मोंके निमित्तसे संसारमें जीव भ्रमण करता है।

इन्हीं कर्मोंके त्यागका त्यागी जीव नित्य केवली भगवानद्वारा सिद्ध किया हुआ सामायिक व्रतको प्राप्त होता है।

टीकाकार कहते हैं—कि सम्यग्दृष्टी जीव संसारके मूलभूत पुण्य और पापोंको त्यागकरके अपने नित्य आनन्दरूप सहज शुद्ध चैतन्य स्वरूपको प्राप्त होता है तथा उसी अपने शुद्ध जीवास्तिकायमें ही विहार करता है पश्चात् वही जीव अतिशय करके तीन लोकके जनोंसे पूजनीक जिनेन्द्र केवली हो जाता है।

मैं नित्य ही उस आत्मज्ञानकी पूजा करता हूं। जो स्वयं सिद्ध है, पापपुण्यरूपी वनके जलानेके लिये अग्नि समान है, महा मोहरूपी अन्धकारके दूर करनेको अत्यन्त तेजरूप है, मुक्तिका मूल है, उपाधिरहित महा आनंदका देनेवाला है तथा भव भवके भ्रमणको नाश करनेमें निपुण है।

यह जीव कामदेवसे उत्पन्न जो सुख उसकेलिये अपनी बुद्धिको क्षोभित किये हुए संसाररूपी वधूके वरपनेको प्राप्त होकर पापरूपी वृक्षके वशवस संसारमें अपने प्राण धारण करता है। कदाचित् अपनी गतिको बदलकर जब यह शीघ्र मोक्षके सुखको प्राप्त करता है तब उस एक सुखको प्राप्त कर फिर वह सिद्ध जीव अपनी अवस्थाको चलायमान नहीं करता है। अर्थात् सदा एकाकार स्वभावमें तल्लीन रहता है।

आगे नव नोकषायोंके जीतनेसे सामायिक चारित्र प्राप्त होता है उसका स्वरूप कहते हैं—

जो दु हस्सं रई सोगं, अरतिं वज्जेदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३१ ॥

सामान्यार्थ—जो हास्य, रति, शोक, अरति, जुगुप्सा, भय, तीनप्रकार वेद ऐसे नव नोकषायोंको नित्य दूर रखता है उसीके ही यह सामायिक स्थायी होती है, ऐसा जीकेवलीके शासनमें कहा है।

विशेषार्थ—मोहनीय कर्मके द्वारा उत्पन्न जो स्त्री, पुरुष, नपुंसकवेद, हास्य, रति, अरति, शोक भय, जुगुप्सा अर्थात् घृणा, ऐसे नव प्रकार नोकषाय अर्थात् ईषत् (किंचत्) कषाय हैं इनसे संयुक्त जो कलंकरूपी कीचड़ उसमई अनेक ही विकारोंके समूहको परमसमाधिके बलसे जो कोई निश्चयरत्नत्रयका धारी परम तपोधन मुनि त्याग देता है उसीके ही निश्चयसे यह परम सामायिक नामका व्रत शाश्वत रूपसे रहता है। यही बात केवली भट्टारकके आगममें सिद्ध है।

टीकाकार कहते हैं—कि—मैं संसाररूपी स्त्रीसे पैदा जो सुखदुःखोंके समूह उनको करनेवाले सब ही नोकषायोंको हर्षपूर्वक त्यागता हूं। कैसा है यह नो कषाय, जो महा मोहसे अन्धे पुरुष हैं उनके हृदयमें सदा ही सुगमतासे उपजा करता है, पर तु जो आत्माकी समाधिमें लवलीन निरन्तर आनंद मनरूप हैं उनके चित्तमें इनका उपजना अति ही दुर्लभ है।

आगे परमसमाधि अधिकारको संकोच करते हुए कहते हैं—

जो दु धम्मं च सुक्कं च, झाणं झाएदि णिच्चसा।
तस्स सामाइगं ठाई, इदि केवलिसासणे ॥ १३२ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई नित्य ही धर्मध्यान और शुक्लध्यानको

ध्याता है इसीके ही यह सामायिक स्थायी होता है ऐसा केवलीके आगममें कहा है।

विशेषार्थ—जो कोई सबसे प्रकार निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शनका लालुपी (अभिलाषावान है तथा समस्त विकल्प जालोंसे मुक्त परम जितेन्द्री योगीश्वर है जो अपने आत्मद्रोंमें है आश्रय जिसका ऐसे निश्चय धर्मध्यानके द्वारा तथा निश्चय शुद्धध्यानसे निरन्तर, खण्डरहित, अद्वैत, स्वाभाविक चैतन्यके विलासमई लक्षणस्वरूप अविनाशी आनन्दके सागरमें डूबे हुए, संपूर्ण बाह्य क्रियाओंसे पराङ्मुख अर्थात् अलग, शाश्वत, अन्तरंगका आधारभूत ऐसे आत्माका मनन करता है अथवा आत्मामें तन्मयरूप विकल्परहित परमसमाधिके ऐश्वर्यको कारण ऐसे धर्म और शुद्ध ध्यानोंसे सदा मोक्षस्वरूप आत्माका ध्यान करता है इसीके ही निश्चयसे जिनेश्वरके आगममें प्रतिपादित नित्य शुद्ध मनवचन कायकी गुप्तिरूप परमगुप्त समाधि है लक्षण जिसका ऐसा अविनाशी सामायिक व्रत होता है।

टीकाकार कहते हैं कि—जो कोई शुद्ध रत्नत्रयका धारी आत्मा शुद्धध्यानमें अपनी बुद्धिको परिणमाता है अथवा भयरहित परमानंद तत्वका है आश्रय जिसको ऐसे धर्मध्यानमें लीन होता है वही तत्वज्ञानी अतिशयसे संपूर्ण भेदोंके अभावसे ऐसे किसी विशाल तत्वको प्राप्त करता है जिसमें बड़े २ दुःखमार्गोंका अंत हो गया है तथा जो अल्पज्ञोंके वचन और मनके मार्गोंसे दूर है। अर्थात् जो अतीन्द्रिय भावगम्य है।

भावार्थ—आत्माको परमसमाधिसे उत्पन्न परमामृतका पान करनेकेलिये आत्मस्वभावमें अवलीन ऐसे धर्मध्यान और शुद्ध ध्यानकी ही आवश्यकता है॥ १३३॥

इस प्रकार सुकवि कविरूपी कमलोंके लिये सूर्यसमान पंचेन्द्रियके फैलावसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभमलधारिदेव द्वारा कथित श्रीनियमसारकी तात्पर्यवृत्ति नाम नामका ९ मा श्रुतस्कंध पूर्ण।

१०—परमभक्त्यधिकार

आगे परम भक्ति अधिकारको कहते हैं। प्रथम ही रत्नत्रयका स्वरूप वर्णन करते हैं—

सम्मत्तणाणचरणे, जो भत्ति कुणइ सावगो समणो ।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती, होदित्ति जिणेहिं पण्णत्तं ॥ १३४ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई श्रावक व श्रमण अर्थात् परमदिगम्बर मुनि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रमें भक्ति करता है उसीके ही निर्वृतिरूप अर्थात् संसारसे छुड़ानेवाली भक्ति होती है, ऐसा जिनेन्द्रभगवान केवलियोंने कहा है।

विशेषार्थ—चारों गतिरूप संसार उसको ग्रहण और उसमें भ्रमणका कारण तीव्र मिथ्यात्व कर्मरूपी प्रकृति है इसका विरोधी जो अपना परमात्मतत्त्व है उसका भले प्रकार श्रद्धान करना, उसीको यथार्थ जानना तथा उसीमें ही सम्यक्रूपसे आचरण करना सो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है।

इन शुद्ध रत्नत्रयके परिणामोंको भजन करना, इनकी भक्ति करनी, तथा इन्हींकी आराधना करनी योग्य है, यह प्रयोजन है। श्रावकके ग्यारह पद हैं इन ११ पदोंमें दर्शन, व्रत, सामायिक, प्रोषधोपवास, सचित्त त्याग और रात्रि भोजनत्याग ऐसे छ पदोंके धारी श्रावक जघन्यश्रावक हैं। ब्रह्मचर्य, आरंभ-त्याग और परिग्रह त्याग इन तीन पदोंके धारी मध्यम श्रावक हैं तथा अनुमति त्याग और उद्दिष्टाहार त्यागवाले क्षुल्लक और ऐलक इन दो पदोंके धारी उत्कृष्ट श्रावक हैं। ये सर्व ही सम्यग्दृष्टी तत्त्वज्ञानी होते हैं, इसलिये शुद्ध रत्नत्रयकी भक्ति करते हैं। इन परम श्रावकोंको और परममुनियोंको भी जिने

भगवान द्वारा कही हुई निर्वृत्ति भक्ति होती है। कैसी है वह निर्वृत्ति भक्ति, जो मोक्षरूप स्त्रीकी दासीस्वरूप है। अर्थात् मोक्षप्राप्तिके उपायमें उपयोगको दृढ़ (वचोन)सा ही निर्वृत्ति भक्ति है।

टीकाकार कहते हैं कि—जो कोई चतुर प्राणी है सो इस संसारके भयको हरनेवाले सम्यग्दर्शन, शुद्ध ज्ञान तथा शुद्ध चारित्रमें सदा अतुल भक्ति करते हैं। वे काम क्रोध आदि सब पापोंके समूहोंसे अपने चित्तको मुक्त करके सदा ही भक्तरूप रहते हैं। चाहे वे श्रावक हों या संयमी।

आगे व्यवहारनयको प्रधान करके सिद्ध भक्तिके स्वरूपको कहते हैं—

मोक्खंगयपुरिसाण, गुणभेद जाणिऊण तेसिंपि।
जो कुणदि परमभत्ति, व्यवहारणयण परिकहियं ॥ १३५ ॥

सामान्यार्थ—उन मोक्ष प्राप्त पुरुषोंके गुणोंके भेदोंको जानकर जो आत्मा उन गुणोंमें परम भक्ति करता है उसीके व्यवहार नयसे यह सिद्धभक्ति कही गई है।

विशेषार्थ—जो समीचीन महात्मा सब कर्मोंके क्षय होनेमें उपायभूत ऐसा जो कारण परमात्मा उसको अपनी भेदरहित और उपचाररहित रत्नत्रयमई परिणतिके द्वारा भले प्रकार आराधन करके सिद्ध अवस्थाको प्राप्त हो चुके हैं, उन सिद्धोंके शुद्ध गुणोंके भेदोंका ज्ञान करके जो कोई निकट भव्यजीव निर्वाणकी परम्पराके कारणभूत ऐसी परम उत्कृष्ट भक्तिको करते हैं उन ही मुमुक्षु जीवोंके व्यवहारनयसे निर्वृत्ति भक्ति अर्थात् सिद्ध भक्ति होती है।

टीकाकार कहते हैं कि—जिन्होंने कर्मोंके समूहोंको जो डाला है, जो सिद्धरूपी वधूके वर हैं तथा जिन्होंने सम्यक्त्व आदि

आठ मुख्यगुणरूपी पक्षको प्राप्त कर लिया है ऐसे मोक्षाधानमें निवासी सिद्ध भगवानोंको मैं नित्य वन्दना करता हूं। जिनेन्द्र भगवानने इस प्रकारकी यह वंदकभावरूप भक्तिको व्यवहारनयसे कहा है। तथा शुद्ध रत्नत्रयस्वरूपमें जो भक्ति है वो निश्चय निर्वृत्ति भक्ति है यथा वर्णन किया है।

आचार्यने सिद्ध अवस्थाके विषयमें वर्णन किया है कि वह सिद्धभाव सब दोषोंसे दूर है केवलज्ञानादि शुद्ध गुणोंका स्थान है तथा शुद्धोपयोगका फलरूप है अर्थात् शुद्धोपयोग धारनेहीसे सिद्ध अवस्थाकी प्राप्ति होती है।

जो श्री सिद्ध महाराज तीन लोकके अग्रभागमें निवास करनेवाले हैं, सब भवके दुःखरूपी समुद्रके पार प्राप्त भए हैं तथा निर्वाणरूपी निजवधूके स्तनसे पैदा होनेवाले सुखकी खान हैं तथा शुद्धात्माकी भावनासे उत्पन्न जो महान केवलज्ञानादि संपत्ति उसके रखनेवाले हैं तथा जो पापवनके जलानेके लिये अग्नि समान हैं। ऐसे सिद्धोंको मैं नित्य नमस्कार करता हूं। तथा मैं नित्य उन सिद्धोंकी शरण्य प्राप्त होता हूं जो तीन लोकके अग्रभागमें शोभायमान हैं, गुणोंके गुरु हैं, जाननेयोग्य जो पदार्थ सो ही ज्ञेय समुद्र उसके पार प्राप्त भए हैं अर्थात् सब ज्ञेय पदार्थोंके जाननेवाले हैं, मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्रीके मुख रूपी कमलके लिये सूर्यके समान हैं, इन्द्रियोंकी पराधीनतासे रहित स्वाधीन सुखके समुद्र हैं आठ महागुणोंको सिद्ध करनेवाले हैं, संसारके हर्ता हैं आठ कर्मोंके समूहको नष्टभ्रष्ट करनेवाले हैं, तथा पापवनोंके जलानेके लिये अग्नि समान हैं।

जिन सिद्ध भगवानोंकी परोक्षभक्ति मनुष्य और देवोंके समूह करते हैं। जो सदा शिवरूप, श्रेष्ठ और प्रसिद्ध हैं वे ही भगवान् सिद्धरूपी रमणीके सुन्दर मुखकमलको दीर्घ मोह करनेवाले भौंरेके समान रहते हैं।

अर्थात् जैसे भ्रमर कभी कमलके वासको नहीं त्यागता वैसे ही श्री सिद्ध भगवान् मोक्ष निवासको कभी नहीं छोड़ते हैं।

आगे निज परमात्माकी भक्तिके स्वरूपको कहते हैं—

मोक्खपहे अप्पाणं, ठविऊण य कुणदि णिव्वुदी भत्ती।
तेण दु जीवो पावइ, असहायगुणं णियप्पाणं ॥ १३६ ॥

सामान्यार्थ—जो जीव निश्चय करके अपने आत्माको मोक्षके मार्गमें स्थापकर मोक्षकी भक्ति करता है वही जीव इसी भक्तिसे परसहाय रहित गुणोंको धरनेवाला ऐसा जो अपना आत्मा उसका लाभ करता है।

विशेषार्थ—भेदोंकी कल्पनाकी अपेक्षा जहां नहीं है और जहां व्यवहार भी नहीं है ऐसे रत्नत्रय स्वरूप वीतराग मोक्ष मार्गमें जो कोई जीव कर्मोंजन रहित निज आत्मिक परमानंदमय अमृतके पीनेके लिये उद्यमी होकर अपने आत्माको ठहराता है और उन मुक्तिरूपी लोक कारणकमलोंमें भी परम भक्ति करता है वही भव्यजीव इसी अपनी भक्तिके गुणोंके द्वारा अपने आत्माका लाभ करता है।

कैसा है आत्मा, जो आवरण रहित स्वाभाविक ज्ञान गुणका धारी होनेके कारण असहाय गुणोंका स्वामी है।

टीकाकार कहते हैं कि—जो आत्मा निश्चयसे अपने आत्माको अपने आत्मस्वरूपमें स्थापित करता है। कैसा है आत्मस्वरूप, जो नित्य है, अविचलरूपसे सदा शुद्ध इस रत्नत्रयमें स्थित है, मुक्तिरूपी लक्ष्मीको प्राप्तिका कारण है, तथा उपमारहित स्वाभाविक ज्ञान दर्शन स्वभावका धारी है।

जो भव्यजीव ज्ञानरूपी प्रकाश करता हुआ अपने चैतन्यकी चमत्कारमई भक्तिकरके अपूर्व अतिशयके घरे घरको अर्थात्

निश्चल आनन्दमयी पदको अतिशयरूपसे प्राप्त करता है तथा सिद्धि-रूपी स्त्रीका स्वामी होता है।

आगे निश्चय योगभक्तिके स्वरूपको कहते हैं—

रायादीपरिहारे, अप्पाण जो दु जुजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स कह हवे जोगो ॥ १३७ ॥

भावार्थ—जो कोई साधु रागादि दोषोंका त्याग करके अपने आत्माको योगमें उद्योगी करता है वही साधु योगभक्तिसे युक्त होता है, अन्यके योग कैसे हो सकता है?

विशेषार्थ—सम्पूर्ण प्रकारसे अन्तरंगमें सन्मुख होकर जो परमसमाधि होती है उस परमसमाधिके द्वारा सब मोह रागद्वेष आदि परभावोंको त्याग करके जो कोई निकट भव्य साधु अपने ही आनन्द अद्वैत परमात्म स्वरूपके द्वारा अपने ही कारण परमात्माको योगमें लीन करता है वही परमतपोधन शुद्ध निश्चय योगभक्तिसे युक्त होता है। ऐसे मुनिके सिवाय जो कोई जीव बाह्य संसारके प्रपंच भावोंमें सुखी हो रहा है उसके किस प्रकारसे यह योगभक्ति हो सकती है? अर्थात् नहीं हो सकती है। ऐसा ही कहा है कि आत्माकी शुद्धिके उद्योगकी अपेक्षा सहित जो श्रेष्ठ मनकी गति उस गतिका आत्मामें संयोग होना सो ही योग कहा गया है।

टीकाकार कहते हैं—कि जो आत्मा अपने आत्माको अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें ही निरन्तर योग करता है वही मुनीश्वर निश्चय योगभक्तिसे संयुक्त होता है।

फिर भी इसी निश्चय योगभक्तिके स्वरूपको कहते हैं—

सव्वविअप्पाभावे, अप्पाण जो दु जुजदे साहू।
सो जोगभत्तिजुत्तो, इदरस्स कह हवे जोगो ॥ १३८ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई साधु सब विकल्पोंके अभावमें अपने आत्माको युक्त करता है उसीके ही योगभक्ति होती है, अन्य मुनिके यह योग कैसे होगा? अर्थात् नहीं होगा।

विशेषार्थ—अत्यन्त अपूर्व रागादि रहित रत्नत्रय स्वरूप अपने चैतन्यका विलास है लक्षण जिसका ऐसी निर्विकल्प परम समाधिके द्वारा सब मोह रागद्वेषादि नाना प्रकारके विकल्पोंको दूरकर जो कोई अत्यन्त निकट भव्यजीव परम समतारूप भावनाके सर्व प्रकार अंतरंगमें सन्मुख अपने कारण समयसार स्वरूपको सदा युक्त ही रखता है उसीके ही निश्चय योगभक्ति होती है दूसरोंके नहीं।

टीकाकार कहते हैं—कि सब भेदोंके अर्थात् विकल्पोंके अभावसे यह श्रेष्ठ योगभक्ति होती है। योगियोंकी इसी भक्तिके द्वारा आत्माके स्वरूपकी प्राप्तिरूप मुक्ति होती है।

आगे कहते हैं कि इस लोकमें निश्चयसे सर्व गुरुओंके भारी गणधर देवको आदि लेकर अन्य जितने मुनियोंके नाथ द्वारा कथित तत्वोंमें विपरीत अभिप्राय रहित जो आत्माका भाव वही निश्चय परमयोग है—

विवरीयाभिणिवेसं, परिचत्ता जोण्हकहियतच्चेसु ।
जो जुंजदि अप्पाणं, णियभावो सो हवे जोगो ॥ १३९ ॥

सामान्यार्थ—जो विपरीत अभिप्रायको छोड़ करके जैन शासनमें कहे हुवे तत्वोंमें अपने आत्माको योग करता है यही आत्माका निजभाव, योग कहलाता है।

विशेषार्थ—जैन सिवाय अन्य धर्मोंके कथाओंद्वारा कहे हुए विपरीत पदार्थोंमें राग भावना होना यही दुराग्रह है अर्थात् एक भारी हठ है तथा इसीका नाम विपरीत अभिप्राय है।

क्योंकि पदार्थ अनेकांतरूप है सो स्याद्वादके द्वारा ही यथार्थ प्रतिपादित हो सकता है। इसलिये उस दुराग्रहको त्यागकर जैन आगममें कहे हुए तत्वोंको निश्चय और व्यवहार नयोंके द्वारा जानना योग्य है।

सकल जिन जो अर्हंत भगवान तीर्थनाथ उनके चरण कमलोंकी सेवा करनेवाले जैन हैं, सो निश्चयसे श्री गणधरदेवादि मुनीश्वर हैं। इन आचार्योंके द्वारा वर्णन किये गए जो सम्पूर्ण जीवादितत्व उनके अनुभवमें जो कोई परम जिनेन्द्री योगीश्वर अपने आत्माको जोड़ देता है उस योगीका जो अपना आत्मीक भाव है वही परम योग है।

टीकाकार कहते हैं कि—जैन मुनियोंके नाथ श्री तीर्थंकर अथवा गणधरादिकोंके द्वारा प्रगट किये हुए तथा भव्यजनोंके संसारको घात करनेवाले तत्वोंके अंदर जो कोई जिन वीतरागी योगीनाथ अपने अनादि परम्परामें होनेवाले विपरीत मुंहरूप दुराग्रहको त्यागकर साक्षात् अपने आत्मीक अंदर भावको ग्रहण करता है उसीके भावयोग कहलाता है।

आगे भक्ति अधिकारको संकोचते हैं—

उसहादिजिणवरिंदा, एव काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहमावण्णा, तह्मा धरू जोगवरभत्तिं ॥ १४० ॥

सामान्यार्थ—श्री वृषभतीर्थंकरसे आदि लेय श्री महावीर जिनेन्द्र पर्यंत २४ तीर्थंकरोंने इसी प्रकारके योगकी उत्कृष्ट भक्ति करके मोक्षके सुखको प्राप्त किया है इसलिये तुम भी इसी योगकी श्रेष्ठ भक्तिको धारण करो।

विशेषार्थ—इस भरतक्षेत्रमें इस अवसर्पिणी कालमें श्री नाभेय (नाभिराजके) पुत्र श्री ऋषभसे लेकर श्री वर्द्धमान पर्यंत चौबीस तीर्थंकर परमदेव सर्वज्ञ वीतराग तीन लोकमें अपनी

कीर्तिको विस्तारनेवाले महादेवाधिदेव परमेश्वर हो गए हैं इन सबोंने ऊपरकी गाथाओंमें कहे अनुसार अपने ही आत्मस्वरूपसे सम्बन्ध रखनेवाली शुद्ध निश्चय योगकी उत्कृष्ट भक्ति की थी, इसीसे परम निर्वाणरूपी वधूके गाढ़ सुखविस्तार द्वारा कारण जो परम सुन्दर रसरूपी अमृत वमन अपने सर्व असंख्यात आत्म प्रदेशोंको पूर्ण करते हुये। इसलिये हे स्पष्ट भव्यजनक गुणोंको धारनेवाले महापुरुषो! तुम भी ऐसी ही योग भक्तिको करो जो अपने आत्माके प्रयोजनभूत परम वीतराग सुखको देनेवाली है।

टीकाकार कहते हैं—कि मैं श्री वृषभादि जिनेश्वरोंकी स्तुति करता हूं। कहते हैं प्रभु, गुणोंके गुरु हैं, तीन लोकको पवित्र करनेवाले व पुण्यरूप करानेवाले हैं, जिनको इन्द्रादिक देव अपने मुकुटोंको नम्रीभूत कर मुकुटके किनारे लगे हुए माणकोंकी कमल समान पूजा करते हैं तथा जिनके निकट इन्द्र गो आदि अप्स देवियोंके समूहके साथ इन्द्रने नाना प्रकारके निर्मल नाच विलास प्रगट किये हैं अर्थात् नृत्य गानादिसे जिनकी भ इमून की है तथा जो कीर्तिरूपी लक्ष्मीके नाथ हैं।

वृषभसे ले श्रीमहावीर अंतिम तीर्थंकर तक सबने इस उपर्युक्त मार्गसे योग भक्ति की है जिससे निर्वाणरूपी वधू अनुपम सुखको प्राप्त किया है। मैं भी मोक्षके सुखकी सिद्धि लिये इसी शुद्ध योगकी श्रेष्ठ भक्तिको करता हूं तथा ऐसे भयानक संसारसे भय करके सर्व ही जीवोंको नित्य यह भक्ति करनी चाहिये। अपने भिन्न राग और द्वेषकी परम्परा होनेवाली जो परिणति उसको छोड़कर अब मैं शुद्ध ध्यानमें अपने मनको संयुक्त करके आनन्दमई आत्मतत्त्वमें स्थित होता हुआ तथा श्रीगुरुके निकट पवित्र सुखको करनेवाले ममता त्यागकर अपने सम्यग्ज्ञानसे समस्त मोहकी महिमाको हटाता हुआ परम सहजस्वरूप परमात्मामें लीन होता हूं।

जो भव्यजीव सुखके लालची हैं तथा जिन्होंने अपना चित्त आत्मतत्त्वके खोजमें लगा दिया है उनको सुन्दर आनन्दसे भरपूर यह उत्तम तत्त्व प्राप्त होता है। जो यती आप्त व अपूर्व अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो परम सुख उसके लिये यत्न करते हैं वे ही यती निश्चय करके जीवन्मुक्त होते हैं दूसरे नहीं। मैं मात्र एक ही परमात्मतत्त्वको पुन पुन भावना करता हूं, जो द्वन्द्वरहित है, अद्वैत है, परम हितकारी रूप है तथा सर्व पापोंसे दूर है।

ऐसा हूं मैं मुक्ति स्त्रीका अभिलाषी हूं, संसारके सुखोंका निरभिलाषी हूं मुझको परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य पदार्थोंके संग्रह करनेसे कौनसे फलकी प्राप्ति होगी अर्थात् कुछ न होगी।

भावार्थ—जो जिसको चाहे उसीको भजे। जो परमात्मा होना चाहता है उसके लिये इसी तत्त्वकी भावना कार्यकारी है।

इति श्रीकविजनरूपी कमलोंके लिये सूर्य, पंचेन्द्रियके विस्तारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी, श्रीपद्मप्रभ-मलधारी-
देव द्वारा रचित श्रीनियमसार ग्रन्थकी तात्पर्यवृत्ति
नामकी संस्कृतव्याख्या तिसमें परमभक्ति
नामा दसवां श्रुतस्कंध पूर्ण
हुआ ॥ १४० ॥



११–निश्चयावश्यकाधिकार

आगे सामयिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्तुति, वन्दना, कायोत्सर्ग ऐसे छः आवश्यक व्यवहार उनसे प्रतिपक्षी जो शुद्ध निश्चय उसका अधिकार कहते हैं।

प्रथम ही कहते हैं कि जो निरंतर अपने वश है उसीके निश्चय आवश्यक कर्म होता है—

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमग्गोत्ति पिज्जुत्तो ॥ १४१ ॥

सामान्यार्थ—जो दूसरेके वश नहीं रहता है उसीके आवश्यक कर्म होता है। यही कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ, मोक्षका मार्ग है, ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—जो कोई, निश्चयसे श्रीजिनेन्द्र मार्गमें यथार्थ विधिके अनुसार आचरण करनेमें कुशल अर्थात् चतुर है, जो सदा ही अंतरंगमें लीन होकर किसी भी अन्यके आधीन नहीं होता किन्तु साक्षात् अपने आत्माहीके आधीन रहता है वही व्यवहार क्रियाके आडंबरोंके प्रपंचसे पराधीन हो जाता है तथा उसीके अपने आत्माहीके आश्रयसे रहनेवाला ऐसा निश्चय धर्मध्यानरूपी प्रधान परम आवश्यक कर्म होता है।

ऐसा निरन्तर परमतपश्चरणमें लवलीन परम वीतरागी योगीश्वर कहते हैं। प्रयोजन यह है कि मन वचन कायकी गुप्तियोंमें गुप्त ऐसी जो परम समाधि यही है लक्षण जिसका ऐसा जो परमयोग वही सर्व कर्मोंके विनाश करनेका कारण है तथा यही साक्षात् मोक्षका कारण होनेसे निर्वृतिका मार्ग है, ऐसी व्युत्पत्ति है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र-सूरीने कहा है—यह

जो यती इस सुखके लोलुपी हैं तथा जिन्होंने अपना चित्त आत्मतत्त्वके लोभमें बसा दिया है उनको सुन्दर आनंदसे भरपूर यह उत्तम तत्त्व प्राप्त होता है। जो यती अत्यन्त अपूर्व अपने आत्माकी भावनासे उत्पन्न जो परम सुख उसके लिये यत्न करते हैं। वे ही यती निश्चय करके जीव मुक्त होते हैं दूसरे नहीं। मैं मात्र एक ही परमात्मतत्त्वकी पुन पुन भावना करता हूं, जो द्वन्द्वरहित है, अद्वैत है, परम हितकारी [redacted] है तथा सर्व पापोंसे दूर है।

ऐसा हूं मैं मुक्ति स्त्रीका अभिलाषी हूं, संसारके सुखोंका निरभिलाषी हूं, मुझको परमात्मतत्त्वके सिवाय अन्य पदार्थोंके संचय करनेसे कौनसे फलकी प्राप्ति होगी अर्थात् कुछ न होगी।

भावार्थ—जो जिसको चाहे उसीको भजै। जो परमात्मा होना चाहता है उसके लिये इसी तत्त्वकी भावना कार्यकारी है।

इति श्रीकविजनरूपी कमलोंके लिये सूर्य, पंचेन्द्रियके विस्तारसे
रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी, श्रीपद्मप्रभ-मलधारी
देव द्वारा रचित श्रीनियमसार ग्रंथकी तात्पर्यवृत्ति
नामकी संस्कृतव्याख्या तथा जिसमें परमभक्ति
नामा दसवा श्रुतस्कन्धपूर्ण
हुआ ॥ १४० ॥



११–निश्चयावश्यकाधिकार

आगे सामयिक, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, स्तुति, वंदना, कायोत्सर्ग ऐसे छह आवश्यक व्यवहार उनसे प्रतिपक्षी जो शुद्ध निश्चय उसका अधिकार कहते हैं।

प्रथम ही कहते हैं कि जो निरंतर अपने वश है उसीके निश्चय आवश्यक कर्म होता है—

जो ण हवदि अण्णवसो, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ।
कम्मविणासणजोगो, णिव्वुदिमग्गोत्ति णिज्जुत्तो ॥ १४१ ॥

सामान्यार्थ—जो दूसरेके वश नहीं रहता है उसीके आवश्यक कर्म होता है। यही कर्मोंके नाश करनेमें समर्थ मोक्षका मार्ग है, ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—जो कोई निश्चयसे श्रीजिनेन्द्र मार्गमें यथार्थ विधिके अनुसार आचरण करनेमें कुशल अर्थात् चतुर है, जो सदा ही अंतरंगमें लीन होकर किसी भी अन्यके आधीन नहीं होता किंतु साक्षात् अपने आत्माहीके आधीन रहता है वही व्यवहार क्रियाके आडंबरोंके प्रपंचसे उदासीन हो जाता है तथा उसीके अपने आत्माहीके आश्रयसे रहनेवाला ऐसा निश्चय धर्मध्यानरूपी प्रधान परम आवश्यक कर्म होता है।

ऐसा निरन्तर परमतपश्चरणमें लवलीन परम वीतरागी योगीश्वर कहते हैं। प्रयोजन यह है कि मन वचन कायकी गुप्तियोंमें गुप्त ऐसी जो परम समाधि वही है लक्षण जिसका ऐसा जो परमयोग वही सर्व कर्मोंके विनाश करनेका कारण है तथा वही साक्षात् मोक्षका कारण होनेसे निर्वृत्तिका मार्ग है, ऐसी व्युत्पत्ति है। ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र-सूरीने कहा

आत्मा ९दोषदोषको नाशकर स्वयं अपने स्वरूप होता तथा नित्य आनंदसे व्याप्त सत् ज्ञानस्वरूपी ज्योतिमें स्थित हुआ जो प्रकाश उससे अपनी ज्योतिको स्फुरायमान जो ज्ञानदीप उससे निवास करनेवाली मुक्ति-लक्ष्मीको प्राप्त करता है।

टीकाकार कहते हैं कि—आहा ! अपने आत्माके आश्रय रहनेवाला जो आवश्यक कर्मरूपी धर्म जो सच्चिदानंद मुनियोंको आत्माहीके विषै नियमरूपसे प्राप्त होता है, वही धर्म कर्मोंके क्षय करनेमें कुशल है और, मोक्षका एक मात्र यही मार्ग है। इसहीके द्वारा मैं जिस तरह होवके शीघ्र ही विकल्परहित सुखको प्राप्त होता हूं।

आगे कहते हैं कि जो स्वाधीन परम वीतरागी योगीश्वर है उसहीके वह परम आवश्यक कर्म होता है—

ण वसो अवसो अवस,—स्स कम्ममावासयंति बोधव्वा।
जुत्तित्ति उवाअंति य, णिरवयवो होदि णिज्जुत्ती॥ १४२॥

सामान्यार्थ—जो किसीके आधीन नहीं है वह अवश है। स्वाधीनके आवश्यक कर्म होता है ऐसा जानना चाहिये। यही उपाय है तथा यही अवयव परद्रव्य अर्थात् उससे रहित निरुक्ति होती है।

विशेषार्थ—निश्चयसे योगी अपने आत्मस्वरूपके ग्रहण करनेके कारण अन्य पदार्थोंके वश नहीं होता है अतएव अवश अर्थात् स्वाधीन रहता है। जो अवश परम वीतरागी योगीश्वर होता है उसके निश्चय धर्मध्यान स्वरूप जो परम आवश्यक कर्म सो अवश्य ही होता है ऐसा जानना चाहिये। निरवयव (कायके रहित) होनेका उपाय युक्ति है।

अवयवी अर्थात् काय उसका अभाव सो निरवयव है। जो

…न्योंके वश नहीं होता वही निरवयव अर्थात् अकाय हो …ता है यही निरुक्ति अर्थात् व्युत्पत्ति है।

टीकाकार कहते हैं कि—जो कोई योगी अपने आत्महितमें लीन …हता है वह शुद्ध जीवास्तिकायको छोड़कर अन्य पदार्थोंके वश …हीं होता है-इस प्रकार अवस्थाका होना सो निरुक्ति है। इसी …ारणसे इस योगीके अमूर्तिकपना प्राप्त होता है। कैसा है …मूर्तिकपना, जो इस योगीके पापरूपी अन्धकारके नाशक नित्य …फुरायमान होती हुई जो ज्योति उससे प्राप्त जो स्वाभाविक …वस्था उससे युक्त है।

आगे कहते हैं कि जो भेदरूप रत्नत्रय अर्थात् व्यवहार …त्नत्रयको परिणतिमें रहता है उस जीवके अवशपना नहीं …ोता है—

वट्टदि जो सो समणो, अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्म, आवस्सयलक्खण ण हवे ॥ १४३ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई श्रमण अर्थात् मुनि अपने अशुभ भावके …ारा आत्माके सिवाय अन्य पदार्थोंके वश हो जाता है इसी …ारणसे उसके आवश्यक कर्म नहीं होता है।

विशेषार्थ—अप्रशस्त राग आदि अशुभ भावोंके द्वारा जो …ोई श्रमणाभास अर्थात् द्रव्यलिंगी मुनि वर्तन करता है और …पने स्वरूपसे भिन्न जो अन्य परद्रव्य उनके वशमें हो जाता …है उस जघन्य रत्नत्रयमें परिणमन करनेवाले जीवके अपनी …ात्मा ही है अन्य जिसका ऐसा धर्मध्यान लक्षण जो परम …आवश्यक कर्म सो नहीं होता है।

मैं … द्रव्यलिंगको धारके अपने
निजस्व … चरणसे उदासीन होकर

उसका क्षेत्र व मकान व धन धान्यादि मेरा है ऐसा मनमें किया करता है।

भावार्थ—ऐसे द्रव्यलिंगीके धर्मध्यान नहीं हो सकता।

टीकाकार कहते हैं कि—तीव्र मदनरूपी मकानमें भरे हुए अन्धकारके समूहसे व्याप्त ऐसे तृणके घरको भी जो मुनि तीव्र वैराग्य भावसे छोड़ चुके हैं वे ही मुनि यदि हम सवारियोंके अनुपम चलनेके स्थानको याद करते हैं तो ऐसे मुनियोंका यह कोई नवीन मोहनीकर्मका कार्य है।

इस कलिकाल पंचमकालमें कभी कोई ही पुण्यात्मा जीव मुनि होकर मिथ्यात्वादि कलङ्करूपी कीचसे अलग रहता है और अपने सत्य आत्मीक धर्मकी रक्षा करता है। कैसा है मुनि, जो अनेक प्रकारके परिग्रहोंसे अलग है तथा पापरूपी वनोंके दग्ध करनेको अग्नि है वो मुनि इसलोक और परलोकमें देवोंसे पूजा जाता है।

इस लोकमें यह तपस्या सम्पूर्ण बुद्धिमान सब पुरुषोंको प्राणोंसे प्यारी है तथा निरंतर जो इन्द्रोंसे नमस्कारके योग्य है ऐसी तपस्याको पाकरके जो कामके अंधकारसे व्याप्त संसारिक सुखमें रमता है वो महामूर्ख जड़बुद्धि है। खेद है कि उसने अपना बहुत बिगाड़ किया। जो मुनिवेषको धारनेवाला भी है परन्तु आत्माके सिवाय अन्य पर पदार्थके आधीन है वह संसारी है और नित्य दुःखोंको भोगनेवाला है। तथा जो अपने आत्माके वश है वह जीवनमुक्त ही है, जो जिनेश्वर देवसे कुछ ही कम है।

अतएव तीर्थंकर भगवानके मार्गके भारी मुनिसमूहोंमें जो मुनि स्ववश हैं, अपने आत्माके ही आधीन हैं वे ही शोभाको पाते हैं। परन्तु जो आत्माके सिवाय पर पदार्थके वश होते हैं वे ऐसे ही प्रतिभाषते हैं जैसे चाकरोंके समूहमें वह चाकर

जिसको राजा अपनी खुशामद व हाँमें हाँ मिला देनेके कारणसे प्यार करता है अर्थात् जो खुशामदी राजवल्लभ चाकर होगा वह सदा पराधीन होगा । ऐसा ही वह आत्मस्वरूपसे बाह्य मुनि है।

आगे फिर भी अन्यके आधीन जो अशुद्ध अन्तरात्मा जीव उसीका कथन करते हैं—

जो चरदि संजदो खलु, सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो ।
तम्हा तस्स दु कम्म, आवासयलक्खणं ण हवे ॥ १४४ ॥

सामान्यार्थ—जो संयमी मुनि शुभ भावमें वर्तन करता है वह भी अन्यके आधीन हो जाता है इसलिये उसके आवश्यक लक्षण है जिसका ऐसा कर्म नहीं होता है।

विशेषार्थ—जो कोई साधु जिनेन्द्रके मुखकमलद्वारा प्रगट जो परम आचार शास्त्र उसके क्रमसे सदा संयमको पालते हुए शुभोपयोगमें चलते हैं अर्थात् व्यवहारिक धर्मध्यानमें परिणमन करते हैं। अतएव बाह्य आवश्यक पालनेमें प्रधान रहते हैं।

स्वाध्याय कालको देखकर स्वाध्याय करते हैं, प्रतिदिन एकबार भोजन करके चार प्रकारके आहारका त्याग करते हैं, तीनों संध्याओंमें अर्थात् प्रात दोपहर और सांझको १०० इन्द्रोंसे वंदनीक अरहंत भगवान् परमेश्वरकी स्तुति पढ़ते हैं, तीनों कालोंके नियमोंमें लीन रहते हैं इस प्रकार रात्रि दिनमें ग्यारह क्रियाओंमें तत्पर रहते हैं।

तथा पाक्षिक, मासिक, चातुर्मासिक तथा वार्षिक प्रतिक्रमण पाठके सुननेसे उत्पन्न हुआ जो संतोष उससे रोमांचित शरीर हो जाते हैं और अनशन, अवमौदर्य, रसपरित्याग, वृत्तिपरिसंख्यान, विविक्तशय्यासन और कायक्लेश ऐसे छः बाह्य तपोंमें सदा उत्साहसे लीन रहते हैं तथा स्वाध्याय, ध्यान, तथा

शुभाचरणसे गिरकर फिर तपोंमें स्थित होना ऐसा जो प्रायश्चित्त तथा विनय वैयावृत्त और व्युत्सर्ग ऐसे छ अतरंग तपोंके आचरण करनेमें चतुर बुद्धिमान होते हैं किन्तु वे निरपेक्ष अर्थात् इच्छा रहित मुनि साक्षात् मोक्षका कारण जो आत्मस्वरूप उसके आश्रयरूप जो आवश्यक कर्म अर्थात् निश्चयसे परमात्मतत्त्वमें विश्रान्तिरूप जो निश्चय धर्म ध्यान तथा शुक्ल ध्यान उनको नहीं जानते हैं इसलिये आत्मस्वरूपसे भिन्न जो पर द्रव्य उनके आधीन होते हैं, इसलिये उनको अवश्य कहते हैं।

ये ही पराधीन मुनि तपश्चरणमें तन्मय अपने चित्तको रखते हुए स्वर्गलोक आदि क्लेशोंके शुभोपयोग जनित फलोंको देनेवाले रागरूपी अग्निके अंगारोंसे पचते रहते हैं।

परन्तु जब इ हीको अत्यन्त निकट भव्यताके गुणोंका उदय होता है तब ये ही परम गुरुकी कृपासे प्राप्त जो परम आत्मीक तत्त्वका श्रद्धान परिज्ञान और चारित्ररूप जो शुद्ध निश्चय रत्नत्रय तन्मई परिणतिकरके निर्वाणके सुखको प्राप्त करते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि—हे मुनियोंमें प्रधान! तू स्वर्गलोक आदिके सुखाभासरूपी क्लेशोंमें प्रीति करना छोड़, निर्वाणका कारण जो परम शुद्धोपयोग उसका कारण जो स्वाभाविक परमात्मा उसको भज। कैसा है परमात्मा, जो परम आनन्द-स्वरूप है, सर्वथा निर्मल ज्ञानका स्थान है, सब प्रकारके आवरणोंसे रहित है तथा सुनय और कुनयके प्रपंच-जालोंसे दूर है।

फिर भी पराधीन साधुका ही स्वरूप कहते हैं—

दव्वगुणपज्जयाणं, चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।
मोहांधयारववगय,—समणा कहयंति एरिसयं ॥ १४५ ॥

सामान्यार्थ—जो कोई साधु छ द्रव्योंके गुण और पर्यायोंके

चिन्तवनमें अपने चित्तको रखता है वह भी अन्यके वश है-पराधीन है, ऐसा मोहके अन्धकारसे दूरवर्ती महा मुनियोंने कहा है।

विशेषार्थ—जो कोई द्रव्यलिंगधारी साधु श्री अर्हंत भगवान द्वारा प्रकाशित जो मूल पदार्थ और उनके अर्थोंको वर्णन करनेमें शक्तिमान हैं ऐसा होकर कभी जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन छः द्रव्योंमें अपने चित्तको धरता है कभी उन द्रव्योंके मूर्तीक अमूर्तीक चेतन अचेतन गुणोंके बीचमें अपने मनको जोड़ता है, कभी उन द्रव्योंको गुणमें परिणमनरूप अर्थपर्यायोंमें कभी उन द्रव्योंके स्वरूपमें परिणमनरूप व्यंजनपर्यायोंमें बुद्धि देता है परन्तु तीनों कालोंमें आवरणरहित नित्य आनन्द अमृतका धारी ऐसा जो अपना कारण समयसार अर्थात् परमात्मा उसके स्वरूपमें तल्लीन जो सहज ज्ञान आदि शुद्ध गुण और शुद्ध पर्यायोंको रखनेवाला अपना आत्मा उसके तत्त्वमें कभी भी अपने उपयोगको नहीं संयोग करता है, इसी कारणसे ऐसा तपोधन अर्थात् मुनि भी अन्यवश है-पराधीन है ऐसा कहागया है।

दर्शन मोहनी और चारित्र मोहनी कर्मोंके ध्वंस अर्थात् क्षय करनेवाले तथा परमात्मतत्त्वकी भावनासे उत्पन्न जो वीतराग सुखरूपी अमृत उसके पीनेमें दत्तचित्त ऐसे जो महामुनि परम-तत्त्व ? आदिक वे निश्चयसे अन्यवश अर्थात् पराधीन मुनिका ऐसा ही स्वरूप कहते हैं।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है। जो परब्रह्म स्वरूपमें तल्लीन नहीं हैं उनको आत्मकार्यके सिवाय अन्य प्रत्यक्ष और परोक्षसे विरुद्ध चिंताओंसे क्या काम है?।

टीकाकार कहते हैं कि—जबतक जीवोंके चिंता है तबतक ही संसार है, जैसे जबतक ईंधन है तभीतक स्वाहानाथ (अग्नि) का बढ़ना है।

आगे साक्षात् स्वाधीन परम जिनयोगीश्वरका स्वरूप कहते हैं—

परिचत्ता परभावं, अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं ।
अप्पवसो सो होदि हु, तस्स दु कम्मं भणंति आवासं ॥१४६॥

भावार्थ—जो साधु परभावको त्यागकर निर्मल स्वभाव धारी आत्माको ध्याता है वही निश्चयसे आत्मवश अर्थात् स्वाधीन होता है। तथा उसीके आवश्यक कर्म हुआ ऐसा कहते हैं।

विशेषार्थ—जो कोई मुनि उपमारहित वीतराग निरंजन स्वभावको धारनेके कारण औदयिक आदि परभावोंको बिलकुल त्याग देते हैं और मन वचन कायसे अगोचर सदा ही आवरण रहित होनेसे निर्मल स्वभाववाले तथा संपूर्ण पापरूपी वीर बैरियोंकी सेनाकी पताकाको लूटनेवाले निज कारण परमात्माको ध्याते हैं वे ही आत्मवश हैं, ऐसा कहागया है।

भेद और उपचाररहित निश्चय रत्नत्रय स्वरूपके धारी ऐसे साधुके ही सर्व बाह्य क्रियाकांड आडम्बर सम्बन्धी नानाप्रकार विकल्पोंके महा कोलाहल उससे विरोधी ऐसा जो महा आनन्दका देनेवाला निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यानरूप परम आवश्यक कर्म जो होता है।

टीकाकार कहते हैं कि—यह उदार बुद्धिका धारी स्वाधीन योगियोंके समूहमें मुख्य मुनि जयवंत होहु। कैसा है मुनि, जिसने संसारके कारण आस्रवको नष्ट कर दिया है तथा पूर्वमें बांधे हुए कर्मोंके समूहोंको विध्वंस किया है। यही साधु अपने यथार्थ प्रगट और दृढ़ विवेक अर्थात् भेदज्ञानसे हर्ष सहित अथवा संसारसे निवृत्तिरूप मोक्षको प्राप्त करता है। कैसी है जहां यथार्थ शुद्ध ज्ञान प्रकाशमान है तथा जो
है। जिन्होंने कामदेवके पांच बाणोंको [illegible]

वाला है, जो दर्शन ज्ञान चारित्र तप वीर्य ऐसे पांच आचारोंसे शोभनीक हैं आकृतिवान हैं तथा मायाचारसे रहित हैं ऐसे गुरुके वचन ही मुक्तिरूपी सम्पदाके कारण हैं। जो कोई निर्वाणके कारण जिनेन्द्रके मार्गको इस प्रकार जानकर निर्वाणकी सम्पदाको प्राप्त करता है उसको मैं पुनः पुनः नमस्कार करता हूं।

हे योगीश्वर! अपने आत्मस्वभावके वशवर्ती योगके होनेसे सुन्दर हो और सुवर्णकी इच्छाको दूर करनेवाले तुम हो। जो कामदेवरूपी व्याधके बाणोंसे पीड़ित चित्त हैं उनको इस संसार-वनमें कोई बचानेवाला नहीं है। अनशन आदि तपश्चरणोंसे तो मात्र शरीरका सूखना ही फल है और कुछ नहीं है परन्तु मैं आपके चरण कमलोंकी चिन्तामें लवलीन हूं तथा स्वाधीन हूं इससे मेरा जन्म सदा सफल है।

स्वाभाविक तेजके समूहमें मग्न पुरुषकी जय होहु। कैसा है यह तत्त्वज्ञानी नर, जो अपने आत्मीक रसके प्रवाहमें पापोंको सब तरफसे धो चुका है। स्वाभाविक समताके रससे पूर्ण है, पुण्यात्मा है, समीचीन है, अपने आधीन अपने मनको किये हुए नित्य विराजमान है तथा अत्यन्त शुद्ध सिद्ध समान है।

श्री सर्वज्ञ वीतराग भगवानके और स्वाधीन आत्मवश योगीके कहीं भी कोई भेद नहीं है। परन्तु हम लोग मूर्ख जड़बुद्धि हैं, खेद है स्वभावको न जानकर मोही हैं।

इस संसारमें एक बड़ी महामुनि सदा धन्य है जो अपने आत्माके वश है तथा अन्य पदार्थोंमें बुद्धिको नहीं रखनेवाला है और जो सर्व कर्मजालोंसे बाहर रहनेवाला है।

आगे शुद्ध निश्चय आवश्यक कर्मकी प्राप्तिके उपायके स्वरूपको कहते हैं—

आवासं जइ इच्छसि, अप्पसहावेसु कुणहि थिरभावं
[illegible] सामण्णगुणं, संपुण्णं होदि जीवस्स ॥ १

सामान्यार्थ—यदि तू आवश्यक कर्मको चाहता है तो तू आत्मस्वभावोंमें स्थिरभावको कर। इसीकरके जीवके सामयिक गुण सम्पूर्ण होता है।

विशेषार्थ—इस प्रकारसे सामायिक, प्रतिक्रमण आदि षट् छ आवश्यक कर्मके प्रपंचजालोंके कलकल शब्दको कहने तथा सुननेसे उदास हे शिष्य! यदि तू संसारवृक्ष समूहके मूलको काटनेवाले कुल्हाड़ेके समान शुद्ध निश्चय धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानरूप अपने ही आत्माके आश्रयमें रहनेवाले आवश्यक कर्मको चाहता है तो तू समस्त विकल्पजालोंसे मुक्त निरंजन अपने ही परमात्माके स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक दर्शन चारित्र तथा स्वाभाविक सुख आदि भावोंमें निरन्तर अपने निश्चल स्थिर भावको कर। इसी उपायसे निश्चय सामायिक गुण उत्पन्न होता है।

जो जीव मोक्षका इच्छुक है उसके मात्र बाह्य छ आवश्यक क्रियाओंसे क्या सिद्धि होगी? अर्थात् कोई भी उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य फलका लाभ न होवेगा। इस कारण मोक्षरूपी स्त्रीके संभोग तथा हास्यमें प्रवीण ऐसा जो क्रियारहित निश्चल परम आवश्यक कर्म उसहीके द्वारा जीवको सामायिक चारित्रकी पूर्णताका लाभ होवेगा।

ऐसा ही श्री योगीन्द्रदेवने कहा है—यदि निर्विकल्प तेरा मन अपने स्वरूपसे बाहर जाता है तो तुझे सर्व दोषोंका प्रसंग आता है और यदि हे भव्य! तू निरंतर अंतरंगमें मग्न हो अपने चित्तको आपमें अचंचल रखता हुआ स्थिर स्वभावरूप हो जाता है तो संसारका अंत हो जाता है।

टीकाकार कहते हैं कि—इस प्रकारका जो अपने आत्मामें नियत रूपसे रहनेवाला आचरण है सो सर्व संसारके दुःखोंका [illegible] है तथा मुक्तिरूपी सुन्दर स्त्रीसे उत्पन्न होनेवाला सुखका अतिशयसे कारण है, ऐसा भले प्रकार समझकर

जो कोई अपरहित समय अर्थात् शुद्धात्मस्वरूपको ध्यानसे जानता है वही मुनियोंका पति अब बाह्य क्रियासे हटा हुआ पाप वनके दाघ करनेको अग्नि समान होता है।

आगे शुद्धोपयोगके सन्मुख जो शिष्य उनको शिक्षा करते हैं—

आवासएण हीणो, पब्भट्ठो होदि चरणदो समणो ।
पुव्वुत्तकमेण पुणो, तह्मा आवासयं कुज्जा ॥ १४८ ॥

सामान्यार्थ—जो श्रमण अर्थात् साधु आवश्यक कर्म नहीं करता है वह अपने चारित्रसे भ्रष्ट है। इसलिये पहले कहे हुए क्रमसे ही आवश्यक कर्म करने चाहिये।

विशेषार्थ—व्यवहार नयसे जो जो मुनि समता, स्तुति, वंदना, प्रत्याख्यान, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग आदि छः आवश्यक क्रियाओंको नहीं करता है वह साधु चारित्र भ्रष्ट होता है। तो फिर जो शुद्ध निश्चय नयके परम अध्यात्मीक भाषासे कही हुई जो निर्विकल्प समाधि स्वरूप परम आवश्यक क्रिया उससे रहित है वह मुनि तो निश्चय चारित्रसे भ्रष्ट ही है।

इस लिये पहली गाथाओंमें स्वाधीन परम वीतराग योगीश्वरके लिये जो निश्चय आवश्यक क्रियाका क्रम बताया है उसके अनुसार अपने आत्माहीमें है आश्रय जिनका ऐसे निश्चय धर्मध्यान तथा शुक्लध्यानके द्वारा परम मुनिको सदा आवश्यक कर्म करना योग्य है।

भावार्थ—प्रमत्तावस्थामें मुनिको व्यवहार छः आवश्यक करने ही चाहिये पर इस दृष्टि परमधर्माधिरूढ़ निश्चय आवश्यक कर्ममें रखनी चाहिये तथा निश्चय हीको उपादेय समझना चाहिये। इस अभ्याससे जब सातवें गुणस्थानके अंतमें पूर्ण निश्चय धर्मध्यानका लाभ करता है तथा आठवें शुक्लध्यानको पाता है तब बाह्य आवश्यक अपने आप

है। क्योंकि यह अवस्था विकल्परहित निश्चय समाधिहीकी है।

टीकाकार—कहते हैं कि आत्माको अवश्य स्वाभाविक एक परम आवश्यक कर्म करना चाहिये। कैसा है यह कर्म, पाप-समूहोंको हरनेवाला तथा मोक्षका मुख्य कारण-मूलभूत है। जो इस कर्मको करता है वह नित्य अपने आत्मीक रसके विस्तारसे पूर्ण, पवित्र और समीचीन कहलाता है तथा अविनाशी अपने किसी अपूर्व सुखको प्राप्त करता है। जो मुनी ऋ स्ववश अर्थात् स्वाधीन हैं, अपने आत्मस्वरूपमें तल्लीन हैं उन्हींको अपने आत्माका अनुभवरूप यह आवश्यक कर्म प्रगट होता है। कैसा है यह कर्म, मुक्तिके शाश्वत सुखका एक अद्वितीय कारण (मूल) रूप है।

आगे कहते हैं कि जो तपोधन आवश्यक कर्मसे रहित है वह बहिरात्मा है—

आवासएण जुत्तो, समणो सो होदि अंतरगप्पा।
आवासयपरिहीणो, समणो सो होदि बहिरप्पा॥ १४९॥

सामान्यार्थ—जो मुनि आवश्यक कर्मकरके सहित है वही अंतरंग आत्मा अर्थात् अंतरात्मा है और जो आवश्यक क्रियाओंसे रहित है वह मुनि बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि है।

विशेषार्थ—भेद और उपचार रहित रत्नत्रय स्वरूप जो अपना आत्मा उसमें अनुष्ठान (आचरण) करना यही निश्चय परमावश्यक कर्म है उससे निरन्तर संयुक्त ऐसा जो अपने आत्मामें लीन स्वाधीन परममुनि सो सर्वोत्कृष्ट अंतरात्मा है। कैसा है यह महा श्रमण, जो सोलह कषाय और नौ नोकषाय इनके अभावसे होनेवाला जो क्षीणमोह नाम बारहवें गुणस्थानकी पदवी उसको प्राप्त हो चुका है। सो ही महात्मा है, अंतरात्माओंमें श्रेष्ठ

है। तथा संयम अर्थात् असंयम रहित अविरत सम्यग्दृष्टी जो जघन्य अंतरात्मा है।

इन दोनोंके मध्यमें सर्व हो मध्यम अंतरात्मा हैं अर्थात् पंचमगुणस्थानवर्ती मध्यम अन्तरात्मा हैं। ये दोनों ही अंतरात्मा अपनेर गुणस्थानके योग्य व्यवहार निश्चय आवश्यक कर्मको करनेवाले हैं। तथा निश्चय व्यवहारनय द्वारा कही हुई जो परम आवश्यक क्रिया उससे रहित बहिरात्मा हैं। ऐसा ही श्री मार्गप्रकाशमें कहा है।

टीकाकार कहते हैं कि—योगी नित्य ही स्वाभाविक परम आवश्यक कर्मसे युक्त हैं तथा संसारसे उत्पन्न जो प्रबल सुख दुःखरूपी वनी उससे दूर रहनेवाले हैं। इसलिये ये योगी निरंतर अपने आत्मामें लीन अंतरात्मा हैं तथा जो अपने आत्मस्वभावसे भ्रष्ट हैं वे बाह्य तत्त्वोंमें लीन बहिरात्मा हैं।

आगे बाह्य अभ्यंतर जो जल्प अर्थात् वचन उसके त्यागका उपदेश करते हैं—

अन्तरबाहिरजप्पे, जो वट्टइ सो हवेइ बहिरप्पा।
जप्पेसु जो ण वट्टइ, सो उच्चइ अन्तरप्पा ॥ १५० ॥

भावार्थ—जो अंतरंग और बाह्य जल्प अर्थात् वचन रचनामें वर्तन करता है परन्तु स्वरूप चिन्तवन नहीं करता वह बहिरात्मा है किंतु जो इन जल्पोंमें नहीं रहता उसको अंतरात्मा कहते हैं।

विशेषार्थ—जो कोई जिनलिंगधारी तपोधनाभास अर्थात् मुनि नहीं किंतु मुनिका भेष रखनेवाला पुण्यकर्मकी इच्छा करके स्वाध्याय, प्रत्याख्यान, स्तवन आदि बाह्य कार्योंमें जल्प करता है अर्थात् शब्दोंको कहता है तथा, भोजनपान शयनादिके आदर ... पानेका वांछी होकर अंतरंग

जल्प मनमें रहता है सो बहिरात्मा जीव है। परन्तु जो अपने आत्माके ध्यानमें लीन होकर तथा सम्पूर्णतया अंतरंगमें सन्मुख रहकर शुभ तथा अशुभ समस्त विकल्प जालोंमें कभी नहीं मगन करता है सो ही परम तपोधन साधु साक्षात् अंतरात्मा है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरीने कहा है कि अपनी इच्छापूर्वक उछलते हुए समस्त विकल्प जालोंको तथा महा भारी नयोंके पक्षरूपी भेदोंको इस प्रकार उल्लंघन करके जो वर्तता है वही अंतरंग और बहिरंग दोनों अवस्थाओंमें एक समता रसमई स्वभाव जो अपना ही अनुभवमात्र भाव है उसको प्राप्त करता है।

टीकाकार कहते हैं कि—संसारके भयको पैदा करनेवाले सर्व अन्तरंग और बहिरंग जालोंको त्यागकर तथा नित्य समता रसमई एक चेतनके चमत्कारमात्र स्वरूपको स्मरण करके ज्ञान ज्योतिके द्वारा प्रकाशमान है अपना अभ्यंतर जिसका ऐसा अंतरात्मा मोहके क्षय होनेपर किसी परम तत्वोको अंतरंगमें साक्षात् देखने लगा।

आगे कहते हैं कि अपने आत्माके आश्रय जो शुक्लध्यान वो ही उपादेय है—

जो धर्मसुक्कझाण,–म्हि परिणदोसोऽवि अन्तरंगप्पा ।
झाणविहीणोसमणो, बहिरप्पा इदि विजाणीहि ॥ १५१ ॥

अन्वयार्थ—जो साधु पुरुष धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यानोंमें परिणमन करता है वही अंतरात्मा है। तथा जो मुनि ध्यानसे रहित है सो बहिरात्मा है ऐसा जानो।

विशेषार्थ—जो साक्षात् उत्कृष्ट अंतरात्मा भगवान् क्षीणकषाय हैं उन क्षीण मोह भगवानके निश्चयसे १६ कषाय और ९ नोक

ध्यायके अभावसे दर्शन मोहनी और चारित्रमोहनीरूपी अन्धकार विलयगए हैं इसलिये वह महात्मा स्वाभाविक चैतन्यका विलास है लक्षण जिसका ऐसे अत्यन्त अपूर्व आत्माको शुद्ध निश्चय धर्म शुक्लध्यानोंसे नित्य ध्याता है। परन्तु जो इन दोनों ध्यानोंसे रहित द्रव्यलिंगी द्रव्यश्रमण है वह बहिरात्मा है ऐसा हे शिष्य ! तुम जानो।

टीकाकार कहते हैं कि—वही श्रमण मुनि है जो कि महा निर्मल धर्म और शुक्लध्यान मूलमई अमृत रसमें वर्तन करता है, जो इन ध्यानोंसे रहित है वह बहिरात्मा है। मैं पूर्वमें कहे हुए अंतरात्मा योगीकी शरणमें प्राप्त होता हूं। तथा केवल शुद्ध निश्चय नयका स्वरूप यह है कि वह बहिरात्मा है अथवा वह अंतरात्मा है ऐसा जो विकल्प सो संसाररूपी रमणी (स्त्री) उसीको प्यार करनेवाला है। सो यह विकल्प कुबी और मद विज्ञानरहित मिथ्यादृष्टी जीवोंको होता है परन्तु सुधी जो सम्यग्दृष्टी हैं उनके विलकुल नहीं होता।

आगे परम वीतराग चारित्रमें लीन जो परम तपोधन मुनि उनका स्वरूप कहते हैं—

पडिकमणपहुदिकिरियं, कुव्वंतो णिच्छयस्स चारित्तं ।
तेण दु विरागचरिए, समणो अब्भुट्ठिदो होदि ॥ १५२ ॥

सामान्यार्थ—प्रतिक्रमण आदिकी निश्चय चारित्ररूप क्रियाको करता हुआ जो रहता है, वही श्रमण इसी निश्चय चारित्रके द्वारा वीतराग चारित्रमें स्थिर होता है।

विशेषार्थः—जो इस लोकसम्बन्धी समस्त व्यापारको त्याग करके साक्षात् मोक्षकी अभिलाषा रखनेवाला महा मुमुक्षु साधु सब पच इन्द्रियोंके व्यापारोंका त्यागनेसे निश्चय —रूप क्रियाओंको करता रहता है वही परम तपोधन

करके अपने आत्माके स्वरूपमें विश्रांति लेना है लक्षण जिसका ऐसे परम वीतराग चारित्रमें तिष्ठता है।

टीकाकार कहते हैं कि—नष्ट होगया है दर्शन और चारित्र मोह जिसका ऐसा अतुल महिमाका धारी आत्मा सांसारिक सुखको करनेवाले कर्मोंसे मुक्त होता हुआ मलरहित मोक्षके मूल चारित्रमें तिष्ठता है वही मुनि आचारकी राशि अर्थात् निधिरूप है। मैं समता स्वरूप अमृतमई समुद्रके बढ़ानेवाले चन्द्रमाके समान ऐसे तपोनिधिको वंदना करता हूं।

आगे सब वचन सम्बन्धी व्यापारके त्यागका उपदेश है—

वयणमय पडिक्रमणं, वयणमय पच्चक्खाण णियम च।
आलोयण वयणमय, त सव्व जाण सज्झायो ॥ १५३ ॥

सामान्यार्थ—वचनमई प्रतिक्रमण, वचनमई प्रत्याख्यान तथा नियम, और वचनमई आलोचना ये सर्व स्वाध्यायमें गर्भित हैं ऐसा जानो।

विशेषार्थ—पाक्षिक मासिक आदि प्रतिक्रमणकी क्रिया पढ़ना तथा नियापक आचार्यके मुखसे प्रगट समस्त पापोंके क्षयका कारण जो द्रव्यश्रुत उसका पाठ इत्यादि सर्व वचन व्यापार के योग्य क्रिया जो पुद्गल द्रव्यके आश्रय जड़मई हैं। इसलिये ग्रहण योग्य नहीं है। प्रत्याख्यान, नियम, आलोचना ये सर्व पुद्गल वचनमई हैं इसलिये स्वाध्याय ही हैं, ऐसा हे शिष्य तुम जानो।

टीकाकार कहते हैं कि—इसलिये यह भव्यजीव जो निर्वाणरूपी स्त्रीके स्तनयुगलके स्पर्शके सुखकी इच्छा करता है सो सर्वदा समस्त वचनकी रचनाको छोड़कर नित्य आनंद आदि अतुल महिमाके धारक अपने आत्मस्वरूपमें स्थित होता है। वही एक इस जगतके जालको तृणके समान देखता

हुआ रहता है। ऐसा ही कहा है—कि वाचना पृच्छना, अनुप्रेक्षा, धर्मोपदेश और आम्नाय ये सब स्तुति मंगल सहित किये जानेसे पांच प्रकारके स्वाध्याय होते हैं।

आगे कहते हैं कि शुद्ध निश्चय धर्मध्यान स्वरूप ही प्रतिक्रमण आदि करने योग्य है—

जदि सक्कदि कादुं जे, पडिकमणादिं करेज्ज झाणमयं।
सत्तिविहीणो जो जइ, सद्दहणं चेव कायव्वं ॥ १५४ ॥

सामान्यार्थ—हे भाई! यदि तू करनेकी शक्ति रखता है तो ध्यानमई प्रतिक्रमणादिकोंको कर और जो तेरी शक्ति न हो तो तब तक ऐसा श्रद्धान तो करना ही चाहिये।

विशेषार्थ—मुक्तिरूपी सुन्दरीके प्रथम दर्शन स्वरूप ऐसी जो निश्चय प्रतिक्रमण प्रायश्चित्त प्रत्याख्यान आदि शुद्ध निश्चय क्रिया उनहीको यदि हे मुनिशार्दूल अर्थात् मुनिसिंह! तेरेमें संहननकी शक्ति प्रकाशमान है अर्थात् यदि तू उत्तम संहननका धारी है तो तुझे करना योग्य है।

कैसा है मुनिसिंह परमागमकी सुगन्धमें ज्ञान है मुख जिसका तथा कमलके समान प्रभावान है। पद्मप्रभ है नाम जिसका तथा जो स्वाभाविक वैराग्यके महलके शिखरका शिखामणि है। और जो परद्रव्योंसे उदास हो अपने आत्मद्रव्यमें बुद्धिको धरनेवाला है तथा पचेन्द्रियोंके फैलावसे रहित शरीरमात्र परिग्रहका धारी है। और यदि तू शक्तिकरके हीन है तो इस दग्धकाल अकाल पंचमकालमें तुझे इस केवल निज स्वरूपका श्रद्धान ही करना योग्य है।

टीकाकार कहते हैं कि—इस असार संसारमें पापोंसे भरे हुये इस क्षेत्रमें इस कलिकाल पंचमकालमें इस अपराजित जिनेंद्रके अनुसार मुक्ति नहीं हो सकती है

किस प्रकारसे उस आध्यात्मिक ध्यानका होना संभव है ? निर्मल बुद्धिमानोंके लिए इसप्रकारका भवभयको हरनेवाला अपने आत्माका श्रद्धान ही करना स्वीकार योग्य है ।

आगे साक्षात् अंतरंगमुक्ति जो परम वीतरागी योगी है उसको शिक्षा कहते हैं—

*जिणकहियपरमसुत्ते, पडिक्कमणादिय परीक्खऊण फुडं ।
मोणव्वएण जोई, णियकज्जं साहये णिच्चं ॥ १५५ ॥

सामान्यार्थ— जिनेन्द्र कथित परमसूत्रोंसे प्रतिक्रमण आदिका स्वरूप भले प्रकार परीक्षा करके जो योगी प्रगटपने मौन व्रतके साथ धारण करता है वही साधु नित्य अपने कार्यको साधता है ।

विशेषार्थ—श्रीमत् अर्हन्तके मुखकमलसे प्रगट सर्व पदार्थोंको अपने गर्भमें रखनेको चतुर ऐसे द्रव्यश्रुतसे शुद्ध निश्चय स्वरूप परमात्मध्यानमई प्रतिक्रमण आदि सत्क्रियाओंको समझकर केवल अपने आत्मिक कार्यमें तत्पर ऐसा परम जिन वीतरागी योगीश्वर शुभ तथा अशुभ सर्व वचनकी रचनाको त्याग करके तथा समस्त परिग्रह और उनके संगको छोड़करके अकेला रह मौन व्रतके साथ शिष्ट सर्व अज्ञानीजनोंसे निंदा जाता हुआ भी अशोभित रह मुक्तिस्त्रीके संयोगके सुखके मूल अपने आत्मिक कार्यको निरंतर साधता है ।

टीकाकार कहते हैं कि—अज्ञानी मनुष्योंसे करी हुई लौकिक निंदाके भयको छोड़कर जो कोई आत्मज्ञानी मोक्षका इच्छुक आत्मा है सो भयानक संसारको करनेवाली शुभ तथा अशुभ समस्त वचनकी रचनाको हटाकर तथा सुवर्ण और स्त्रीके मोहको दूरकर अपने आत्माके द्वारा अपने आत्मामें केवल मुक्तिके लिए निश्चल स्थिति करता है । अज्ञानी मनुष्योंसे करी हुई निंदाके

* इस गाथाकी छाया ही टीकाकारने लिखी है ।

को त्यागकर तथा सम्पूर्ण लौकिक वचनके जालोंको दूरकर
मपश्चात् आगममें चतुर ऐसा परमात्मध्येयी मुनि नित्य सुखको
ाले अपने एक आत्मीक तत्त्वको ही प्राप्त होता है।

आगे वचन सम्बन्धी सर्व व्यापारोंसे निवृत्ति होनेके कारणका
न कथन करते हैं —

ाणा जीवा णाणा, कम्मं णाणाविहं हवे लद्धी।
म्हा वयणविवादं, सगपरसमएहिं वज्जिज्जो ॥ १५६ ॥

सामान्यार्थ —नाना प्रकारके जीव हैं, नाना प्रकारके कर्म
नाना प्रकारकी जीवोंके लब्धियां होती हैं इसलिये अपने और
 समयों अर्थात् मतोंसे वचनोंका विवाद मिटाना योग्य है।

विशेषार्थ—जीव अनेक प्रकारके हैं जैसे मुक्त और संसारी,
 और अभव्य। तथा संसारीके दो भेद हैं-त्रस और स्थावर।
द्रिय, तेंद्री, चौंद्री, पचेंद्री असैनी और सैनी ऐसे पांच प्रकार
हैं। पृथ्वी, जल, तेज वायु, वनस्पति ये पांच स्थावर हैं।

आगामी कालमें स्वभावसे अनंत चतुष्टयमई स्वाभाविक
आदि गुणोंकरके होनेयोग्य अर्थात् जिनके ये गुण आगामी
 हो सकें सो भव्य हैं। इनसे विपरीत जो हैं अर्थात्
के अनंत ज्ञान आदि प्रगट न हो सकें वे अभव्य हैं। कर्म
 प्रकारके हैं-द्रव्यकर्म भावकर्म और नोकर्म भेदसे तीन
रके कर्म हैं, अथवा मूल प्रकृतिके भेदसे द्रव्यकर्म ८ प्रकार
तथा उत्तर प्रकृति १४८ हैं। तीव्र, तीव्रतर, मंद, मंदतर
के उदयसे जीवोंके सुख आदिकी प्राप्ति सो लब्धि है। तथा
प्रायोग्य और करण लब्धिके भेदसे

इसलिये जो परमार्थ निश्चयके ज्ञाता हैं उनको अपने तथा परके मतोंसे वाद विवाद नहीं करना योग्य है।

भावार्थ यह है कि—जबतक जीवोंके शुभ कर्मके उदयसे काल लब्धि आदिकी प्राप्ति नहीं होती तबतक सत्य मार्गका श्रद्धान नहीं होता। ऐसा मनमें निश्चयकर परके समझानेके लिये अत्यन्त आकुलता नहीं करनी। यदि अपनेको शुद्ध निश्चय स्वरूपका श्रद्धान हो जाय तो अपने हितमें प्रमाद नहीं करना। अपना काम तो करना ही। क्योंकि सब जीव हमारे विचारके हो जाँय सो कठिन है।

टीकाकार कहते हैं कि—जीवोंके जो नाना प्रकारके विकल्प होते हैं वे सर्व संसारके कारण हैं तथा अनेक प्रकारके कर्म भी सदा जीवोंको जन्म जन्ममें भ्रमण करानेवाले हैं। योग्य सब परको तथा अन्य लब्धियोंकी प्राप्ति होना सो सब निर्मल जिनेन्द्रके मार्गमें विदित है अर्थात् सबके नहीं होती, इसलिये स्वसमयरूप अपना आगम तथा पर समयरूप परका आगम इनमें वाद विवाद नहीं करना योग्य है।

भावार्थ-यह आध्यात्मीक शास्त्र है इसमें मुख्यत से यही उपदेश है कि निज आत्मीक अनुभव करना योग्य है, वाद विवा दमें पड़नेसे कार्यकी सिद्धि नहीं हो सकती।

आगे दृष्टान्त देकरके स्वाभाविक तत्त्वकी आराधनाकी विधि कहते हैं—

लद्धूण णिहि एक्को, तस्स फलं अणुहवेइ सुजणत्तें।
तह णाणी णाणणिहि, भुंजेइ चइत्तु परतत्तिं ॥ १५७ ॥

सामान्यार्थ—जैसे कोई दरिद्री धनको पाकर उसका फल अपनी जन्मभूमिमें अत्यन्त गुप्तपनेसे भोगता है, ऐसे ही ज्ञानी

ज्ञाननिधिको पाकर परद्रव्योंके समूहोंको त्यागकर उसीका भोग करता है।

विशेषार्थ—किसी दरिद्रीको कभी किसी पुण्यके उदयसे निधि अर्थात् धन प्राप्त होजावे तो वह अपनी जन्मभूमिमें जाकर अपने गूढ़ताईके साथ उस धनका फल भोगता है, इसीतरह स्वाभाविक परमतत्त्वका ज्ञाता जीव जब कभी निकट भव्यताके गुणोंके उदय होते हुए स्वाभाविक वैराग्यकी सम्पत्तिको प्राप्त करता है तब परमगुरुके चरणकमलोंको उत्कृष्ट भक्तिके द्वारा मुक्तिरूपी सुन्दरीके मुखको सुगंधसे सुगंधित ऐसी सहज ज्ञान निधिका लाभ करता है तथा उस समय आत्मस्वरूपसे रहित अन्य मनुष्योंके समूहको ध्यानमें विघ्नका कारण जान त्यागता है और स्वाभाविक आत्मज्ञान निधिके भोगोंको भोगता है।

टीकाकार कहते हैं कि—इस लोकमें कोई लौकिक जन पुण्यके निमित्तसे कंचनके ढेरको प्राप्त कर गूढ़ रह उसको बरतता है उसी तरह ज्ञानी जीव सब संगको तजकर अपने आत्मज्ञानकी रक्षा करता है। जन्म मरण और रोगादि व्याधिके कारण सब परिग्रहको अपनी बुद्धिसे त्याग करके तथा हृदयकमलमें पूर्ण वैराग्यके भावको धारण करके तथा अपनी शक्ति अनुसार स्वाभाविक परमानंदसे भरपूर क्षीणमोहकी अवस्थामें ठहर करके हम सदा ही इस लोकको तृणके समान देखते हैं।

भावार्थ—लोककी परवाह न करके निजस्वरूपहीका ध्यान करते हैं।

आगे परमावश्यक अधिकारको संकोच करे हैं—

सव्वे पुराणपुरिसा, एवं आवासयं य काऊण।
अपमत्तपहुदिठाणं, पडिवज्ज य केवली जादा ॥ १५८

"सर्व ही प्राचीन महात्माओंने इसी

आवश्यक कर्मको करके अप्रमत्तसे ले क्षीणमोह गुणस्थानोंमें प्राप्त होकर केवलज्ञानको प्राप्त किया है।

विशेषार्थ—अपने ही आत्माका आश्रय है जिनको ऐसे निश्चय धर्मध्यान और शुक्लध्यान हैं ये ही शुद्ध निश्चय परमावश्यक कर्म हैं। जो बाह्य सामायिक आदि छः आवश्यक क्रियाओंमें प्रतिपक्षी हैं तथा आत्मा व मोक्षरूपी सुन्दर स्त्रीके समागमसे उत्पन्न सुखका कारण है ऐसे परमावश्यक कर्मको करके सब प्राचीन पुरुष तीर्थंकर परमदेव आदिक महान पुरुष कोई स्वयंबुद्ध कोई दूसरोंके द्वारा उपदेश पाकर अप्रमत्तसे ले सयोगिभट्टारक गुणस्थानतक पंक्ति रूप आरूढ होतेहुए सम्पूर्ण प्रत्यक्ष ज्ञानके धारी केवली हो गए। यह सर्व महिमा परम आवश्यक कर्मको सेवासे प्राप्त होती है।

टीकाकार कहते हैं कि—प्राचीन कालमें सब महान पुरुषोंने अपने आत्माकी आराधना ही करके योगी होकर समस्त कर्मरूपी राक्षसोंके समूहको नष्ट कर दिया है—ऐसे जो ज्ञानापेक्षा व्यापक और विष्णु अर्थात् जय प्राप्त जिनको जो कोई संसारका वैरागी मोक्षका इच्छुक एकाग्र मन होकर नित्य प्रणाम करता है वह शीघ्र पापरूपी वनीके दाह करनेके लिये अग्निके समान है तथा उसके चरणकमलोंको सर्व मनुष्य पूजन करते हैं। सुवर्ण और स्त्रीके गोचर सर्व मोहको जो त्यागनेयोग्य है उसको छोड़कर हे मन! तू परम गुरुके प्रसादसे धर्मका लाभ कर तथा निर्मल आनन्दके लिये परमात्मामें प्रवेश कर। कैसा है परमात्मा, जो नित्य आनंदरूप है, अनुपम गुणोंसे शोभायमान है, अलौकिक मोहवाला अर्थात् मुक्तिकांतेश है तथा जो निराकुल रूप है।

इस प्रकार सुकविरूपी कमलोंके लिये सूर्यके समान, पंचेन्द्रियोंके विस्तारसे रहित, शरीर मात्र परिग्रहके धारी श्रीपद्मप्रभमलधारी देव विरचित नियमसार प्राकृत ग्रंथकी तात्पर्य वृत्ति नाम संस्कृत टीकामें निश्चय परमावश्यक नामका ग्यारवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

१२-शुद्धोपयोगाधिकार

आगे सर्व कर्मोंको नष्ट करनेवाले शुद्धोपयोग नामके अधिकारको कहते हैं।

प्रथम कहते हैं कि ज्ञानी जीवके ही किसी अपेक्षासे स्वपर स्वरूपका प्रकाशकपना है—

जाणदि पस्सदि सव्वं, ववहारणएण केवली भयवं।
केवलणाणी जाणदि, पस्सदि णियमेण अप्पाणं॥ १५९॥

सामान्यार्थ—केवली भगवान् सर्व पदार्थोंको जानते देखते हैं यह कथन व्यवहारनय करके है परन्तु नियम करके अर्थात् निश्चय करके केवलज्ञानी अपने आत्मस्वरूपको ही जानते और देखते हैं।

विशेषार्थ—आत्माके गुणोंको घात करनेवाले कर्मोंको नाश कर देनेसे सर्व प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होते हैं। इनके द्वारा व्यवहार नयसे श्री अरहंत भगवान परमेश्वर परम भट्टारक तीन काल सम्बन्धी और तीन जगतके सर्व चर और अचर अर्थात् त्रस और स्थावर जीव तथा पुद्गलादि द्रव्योंके गुण और पर्यायोंको एक ही समयमें जानते और देखते हैं।

व्यवहार नय पराश्रित है ऐसा सिद्धान्तका वचन है, अर्थात् अपनेसे अन्य जो पदार्थ उनके आश्रयसे जो कथन अपनेमें किया जाय सो व्यवहार नय है। परन्तु शुद्ध निश्चयसे परमेश्वर महादेवाधिदेव सर्वज्ञ वीतराग देवके परद्रव्योंको ग्रहण करनेवाला ऐसा जो दर्शकपना तथा ज्ञायकपना आदि नानाप्रकारके विकल्प

इनको रखनेवाला नदीस घराना जो अवस्था सो मुख्यपनेसे अन्य कथन है अर्थात् अपवाद है।

भावार्थ—यह उपचार नयसे कथन है कि परके ज्ञातादृष्टा हैं। निश्चय अपेक्षा यह एक अपवाद है। वे भगवान् कार्य परमात्मा होनेपर भी तीनों कालोंमें उपाधिरहित तथा मर्यादा रहित नित्य शुद्ध स्वाभाविक ज्ञान स्वाभाविक दर्शनसे अपने कारण परमात्माको स्वयं जानते और देखते हैं। कैसे जानते देखते हैं कि यह ज्ञानका धर्म है। यह मेरा धर्म प्रदीपके समान स्वपर प्रकाशक है।

जैसे घटपट आदि पदार्थोंका प्रकाश करनेवाला दीपक है सो प्रकाश होनेयोग्य पदार्थोंसे भिन्न होनेपर भी अपने स्वाभाविक स्वपर प्रकाशनके स्वभावसे आपको भी प्रकाशता है तथा दूसरोंको भी प्रकाशित करता यह आत्मा भी व्यवहार नयसे तीन जगत और तीनों कालोंको प्रकाशता है, वैसे ही यह आत्मा परम ज्योतिस्वरूप होनेके कारण अपने आत्माको भी प्रकाश करता है।

ऐसा ही ९६ प्रकारके पाखण्डोंको विजय करनेसे महान कीर्तिको प्राप्त करनेवाले श्री महासेन पंडितदेवने कहा है कि यथार्थ वस्तुका निर्णय सो ही सम्यग्ज्ञान है। यह ज्ञान प्रदीपके समान आप और परपदार्थको निश्चय करने स्वरूप है तथा प्रमिति जो प्रमाणका फल उससे किसी अपेक्षासे पृथक् पृथक् है।

अब कहते हैं कि यह ज्ञान निश्चयनय करके भी स्वपर प्रकाशक है। अर्थात् यह ज्ञान निरन्तर राग रहित अपने निरंजन स्वभावमें लीन रहता है अपने स्वरूपके ही आश्रित है, ऐसे निश्चयनयका वचन है। आत्माका जो सहज ज्ञान है सो अपने आत्मासे संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा भिन्न होनेपर भी वस्तु-वृत्ति अर्थात् आत्मपदार्थमें ही तिष्ठनेकी अपेक्षा भिन्न नहीं

है। इस कारणसे यह ज्ञान आत्माके साथ दर्शन सुख तथा चारित्र आदि गुणोंको जानता है, वैसे ही अपने कारण परमात्माके स्वरूपको भी जानता है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्रसूरीने कहा है कि स्वयमेव अपने आत्माकी अचल महिमामें लीन होता हुआ यह पूर्णज्ञान प्रकाशमान हो रहा है। कैसा है पूर्णज्ञान, जो कर्मबंधके नाशसे अविनाशी अनुपम मोक्षका अनुभव कर रहा है नित्य उद्योत रूप है, अपनी स्वाभाविक अवस्थाको स्पष्ट करनेवाला है, एकांत शुद्ध है, एक निज आकार रूप है, अपने रससे भरपूर है, अत्यन्त गंभीर है तथा धीर है।

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि—यह केवलज्ञान मूर्तिका धारी आत्मा इस सम्पूर्ण जगतको निरंतर देखता है तथा मोक्षरूपी सुन्दर स्त्रीके कोमल मुखरूपी कमलमें अपनी किसी अपूर्व तृष्णाको तथा शोभायमई शोभाको विस्तारता है। यह कथन व्यवहार नयसे है। परन्तु निश्चयनयसे यह दोषोंका देव जिनेन्द्र मल समूहसे हटा हुआ अपने ही शुद्ध स्वरूपका अनुभवसे कर्ता है।

आगे कहते हैं कि केवलज्ञान और केवलदर्शन एक-साथ ही आत्मामें वर्तते हैं इसी बातको दृष्टांत द्वारा प्रगट करते हैं—

जुगवं वट्टइ णाणं, केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।
दिणयरपयासताप, जह वट्टइ तह मुणेयव्वं ॥ १६० ॥

सामान्यार्थ—जैसे सूर्यका प्रकाश और आताप एक ही साथ वर्तन करता है वैसे ही केवली भगवानके एक साथ ही केवलज्ञान और केवलदर्शन होते हैं, ऐसा जानना योग्य है।

विशेषार्थ—जैसे किसी समय मेघोंके आवरणके दूर होते ही [illegible] विकसित सूर्यका आताप और प्रकाश [illegible]
हो [illegible] है ही तीर्थंकर परमेश्वर भगवानके

समय ही समस्त स्थावर और त्रस जीवोंके तथा अन्य द्रव्योंके गुण और पर्यायोंके जाननेमें अर्थात् ज्ञेय पदार्थोंमें एक साथ ही सम्पूर्ण प्रकारसे निर्मल केवलज्ञान और केवलदर्शन प्रगट होते हैं। परन्तु संसारी जीवोंके दर्शनपूर्वक ही ज्ञान होता है अर्थात् प्रथम पदार्थका निराकार अवलोकन होता है पश्चात् उसका ज्ञान होता है।

ऐसा ही श्री प्रवचनसारमें कहा है। भावार्थ—छद्मस्थोंके दर्शनपूर्वक ज्ञान होता है दोनों उपयोग साथ नहीं होते हैं जब कि केवली भगवानके दोनों उपयोग एकसाथ होते हैं।

ऐसा ही टीकाकार कहते हैं कि—जैसे समस्त अंधकारके समूहको दूर करनेवाले तेजकी राशिरूपी सूर्यके उदय होते आताप और प्रकाश दोनों प्रगट होते हैं तथा जगतके जीवोंके नेत्र खुलते हैं अर्थात् जगत बिना दीपकादिके सब कार्योंको देखता है और करता है, तैसे ही श्री भगवान सर्वज्ञ तीर्थंकर देवके सदा ही ज्ञान और दर्शन एक साथ ही होते हैं। ऐसे हैं प्रभु, जो असंदश हैं अर्थात् जिनके समान तीनों लोकोंमें और कोई ब्रह्मादिक देव नहीं है तथा जो सर्व लोकके एक अपूर्व ईश्वर हैं।

हे जिननाथ! आप सम्यग्ज्ञानरूपी जहाजपर चढ़कर शीघ्र ही संसार-समुद्रको उल्लंघकर मोक्षकी अविनाशी नगरीमें पधारते भए। अभी ही मार्गकरके मैं भी उसी मोक्षपुरीमें जाऊंगा। क्योंकि उत्तम पुरुषोंको इस मार्गके सिवाय अन्य कोई शरण अर्थात् रक्षक नहीं है। एकमात्र श्री जिनेंद्र केवलज्ञान सूर्य ही जयवंत होहु। कैसे हैं ज्ञानसूर्य प्रभु जो भव्य जीवोंके मुख कमलमें किसी अपूर्व चमकको विस्तारते हैं। जो मुक्तिरूपी स्त्री समासमई अतीन्द्रिय सुखको देनेवाली है तथा प्रेमकी भूमि और परमप्रिय है उसके सुखको रात्रिदिन देनेके लिए कौन समर्थ है?

अर्थात् कोई नहीं है। एक श्री जिनेन्द्र ही समर्थ हैं। श्री जिनेन्द्र भगवान ही बुद्धिरूपी नौकेसे गुणसमुद्रमें मगरके समान क्रीड़ा करते हुए रमने भये और फिर अद्वितीय निर्दोष अतीन्द्रिय सुखका भोग करते भये।

आगे आत्मा स्वपर प्रकाशक है इसके विरोधका निराकरण करते हैं—

णाणं परप्पयासं, दिट्ठी अप्पप्पयासया चेव।
अप्पा सपरपयासो, होदित्ति हि मण्णसे जदि हि ॥ ११६॥

सामान्यार्थ—यदि कोई आत्माको निश्चयसे स्वपर प्रकाशी है ऐसा मानता है तथा कहता है कि ज्ञान परप्रकाशक ही है तथा दर्शन आत्मप्रकाशक ही है।

विशेषार्थ—अब यहां कहते हैं कि आत्मा स्वपरप्रकाशक किस प्रकार है—ज्ञानदर्शनादि विशेष गुणोंके सहित जो आत्मा है। यदि आत्माका ज्ञान गुण परको प्रकाश करनेमें समर्थ होनेसे परको ही प्रकाश करनेवाला है तथा इसी प्रकारसे आत्माका दर्शन अद्वैतरहित केवल अभ्यंतरमें ही आत्माको प्रकाश करता है इस प्रकारसे स्वपर प्रकाशक आत्मा है

आचार्य कहते हैं हे अल्पमति! यदि तू ऐसा मानता है तो तू मिथ्यादृष्टि है। सांसारिक स्थिति अर्थात् प्रथम अवस्थामें होनेवाला जो अल्पदृष्टि उसको जो अल्पदर्शनकी तुच्छता होती है सो भी तुझको ज्ञात नहीं है। तेरे समान अन्य कोई अल्पमति नहीं है तथा विरोध रहित स्याद्वाद विद्यारूपी देवीके पूजनेवाले सज्जन सम्यग्दृष्टि निरंतर ऐसा ही मानते हैं कि न तो ज्ञान एकांतरूपसे परप्रकाशक ही है और न केवल एकांतसे

यह आत्मा निश्चयकरके दर्शन ज्ञान आदि अनेक धर्मोंका आधार है। तथापि व्यवहार नयकरके भी केवल मात्र यह ज्ञान परप्रकाशक ही है ऐसा नहीं है। यदि ऐसा माना जायगा तो आत्मासे सम्बन्ध न रहेगा, क्योंकि यह ज्ञान सदा ही आत्मासे बाहर रहेगा। तब ज्ञानद्वारा आत्माकी प्रतीति नहीं होगी। यह ज्ञान स्वतंत्र हो जायगा। इसलिये यह वास्तवमें ज्ञान ही न रहेगा किंतु मृगतृष्णाके जलके समान ज्ञानका प्रतिभास मात्र ही होगा। जैसे बालूरेतमें सूर्यकी चमकसे जल समझ मृग आकुलित होता है एवं ही बाहर पदार्थमें ज्ञान कल्पकर ज्ञान नहीं मिलता किंतु ज्ञानका दीखता है। इसीतरह दर्शन भी केवल अभ्यंतर आत्माके ही प्रतीतिका कारण नहीं है, किंतु सदा ही सबको देखता है॥

जैसे यह चक्षु अपने अभ्यंतरमें बैठी हुई कनीनिका अर्थात् पुतली उसको तो नहीं देखती है बाहर सबको देखती है। इससे दर्शन परप्रकाशक ना हुआ। इस कारण यह ज्ञान दर्शन दोनों ही स्व और परको प्रकाश करनेवाले हैं इसमें कोई भी विरोध नहीं है। इस कारण यह आत्मा भी स्व पर प्रकाशक ही है, क्योंकि ज्ञान दर्शन आत्माका धर्मस्वभाव है। आत्मासे अन्य प्रदेशअपेक्षा भिन्न नहीं है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरीने कहा है कि यह आत्मा एक ही समयमें समस्त भूत, भविष्य और वर्तमान जगतको जानता हुआ भी मोहके अभावसे पररूप कभी नहीं परिणमन करता है। परन्तु यह आत्मा सर्वकर्मोंको नाश करके सुखमें प्रतिभासमान होता है। कैसा होता हुआ प्रतिभासमान होता है, तीन लोक सम्बन्धी सर्व ज्ञेय पदार्थोंको प्रगटपने स्पष्ट व अलग २ जानता हुआ अर्थात् ज्ञानकी मूर्तिमई स्वरूप रहता है।

टीकाकार कहते हैं कि—आत्माका ज्ञान एक अपने स्वाभाविक

परमात्मस्वरूपको जानता हुआ भी लोक और अलोक दोनोंको ज्ञेयके ग्राहकके समान प्रकट करता है। इसी तरह दर्शन समस्त आवरणोंसे रहित होकर नित्य शुद्धताको रखता हुआ स्व और परको देखनेवाला है। इन दोनों ज्ञानदर्शनोंसे सहित आत्मा अपनेको तथा परको ऐसे समस्त ज्ञेय राशिको जानता है।

फिर भी पूर्वपक्षीको कहते हैं —

णाणं परप्पयासं, तइया णाणेण दंसणं भिण्णं ।
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥ १६२ ॥

सामान्यार्थ — जो ज्ञान दूसरे पदार्थोंको ही प्रकाश करता है तब ज्ञानसे दर्शन भिन्न हुआ। इस कारण यही वर्णन हुआ कि दर्शन परद्रव्यको देखनेवाला नहीं है।

विशेषार्थ — यदि ज्ञान केवल परको प्रकाश करनेवाला है तब ऐसे पर प्रकाशक ज्ञानसे दर्शन भिन्न हो जायगा, क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक है और दर्शन आत्मप्रकाशक है। ऐसा माननेसे ज्ञान और दर्शन दोनों भिन्न२ हो जायगे। जैसे सह्याचल और विन्ध्याचल भिन्न२ हैं अथवा गंगाजी और श्रीपर्वत भिन्न२ हैं। इसी तरह ज्ञान और दर्शन भिन्न हैं, ऐसा हो जायगा।

यदि दर्शन ही आत्मामें रहनेवाला माना जायगा तो ज्ञान आधाररहित होनेसे शून्य हो जायगा अथवा यदि ज्ञान शून्य न होगा तो जहां२ ज्ञान जायगा वहां२ की सब वस्तुएं चेतनरूप हो जायगी। तब तीन लोकमें कोई भी अचेतन पदार्थ न रहेगा यह बड़ा भारी दूषण आ जायगा। क्योंकि ज्ञान जब सब पदार्थोंमें रहेगा आत्मामें न रहेगा तब सर्व पदार्थ चेतन हो जावेंगे, अचेतन कोई न रहेगा।

इसलिये हे शिष्य! ऐसा मत कहो कि ज्ञान केवल परको ही प्रकाश करनेवाला है। तथा दर्शन केवल आत्माको ही

है। इसलिये निश्चय यही समाधान सिद्धांतका है [redacted] ज्ञान और दर्शन दोनों ही कथंचित् स्वपर प्रकाश ही हैं। ऐसा नहीं कि ज्ञान केवल पर प्रकाशक है और दर्शन स्वप्रकाशक है।

ऐसा ही श्री महासेन पंडित देवने कहा है कि—ज्ञान आत्मासे न तो सर्वथा भिन्न है, न अभिन्न है किंतु कथंचित् भिन्न और कथंचित् अभिन्न है। पूर्व और आगामी सर्व पदार्थोंको जाननेवाला जो ज्ञान है सो ही आत्मा है ऐसा कहा गया है।

टीकाकार कहते हैं कि—न तो आत्मा ज्ञान ही है न दर्शन [redacted] है परन्तु ज्ञान और दर्शन सहित आत्मा है। इन दोनों करके सहित आत्मा आप और पर दोनोंको अवश्य ही जानता है। संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजनकी अपेक्षा ज्ञान और दर्शनसे तथा आत्मासे कथंचित् भेद है परन्तु निश्चयनयसे पापसमूहको नाश करनेवाले आत्मामें और ज्ञानदर्शनमें कोई भेद नहीं है, जैसा अग्नि और उसकी उष्णतामें भेद नहीं है।

आगे एकांत नयसे आत्मा परप्रकाशक नहीं है ऐसा कहते हैं—

अप्पा परप्पयासो, तइया अप्पेण दंसणं भिण्णं।
ण हवदि परदव्वगयं, दंसणमिदि वण्णिदं तम्हा ॥ १६३ ॥

सामान्यार्थ—यदि आत्मा केवल परको ही प्रकाश करनेवाला है तो आत्मासे स्वप्रकाशक दर्शन भिन्न हो रहेगा। कारण कि दर्शन पर द्रव्यगत नहीं है ऐसा कहा गया है।

विशेषार्थ—जैसे एकांतसे ज्ञानका पर प्रकाशकपना पहले निषेध्या है वैसे ही यहां आत्माके केवल पर प्रकाशकपने होनेका निराकरण करते हैं। क्योंकि अपने स्वभावके अभावसे स्वभाव और स्वभाववान वस्तुका एक अस्तित्व न रहेगा आत्मा स्वपरप्रकाशक है।

पहले कह चुके हैं कि जो ज्ञानको परप्रकाशक माना जायगा तो दर्शनसे उसको भिन्नता हो जायगी। अब जो आत्माको भी परप्रकाशक मानोगे तो आत्माकी भी दर्शनसे भिन्नता हो जायगी। क्योंकि ज्ञान परप्रकाशक है इसी कारण दर्शनसे भिन्न हुआ है, यह बात प्रतिपादन की जाचुकी है।

इसलिये आत्मा भी दर्शनसे जुदा हुआ। और जो कहोगे कि आत्मा पर द्रव्योंको जानता है परन्तु दर्शन गुणसे भिन्न नहीं है तो फिर यही सिद्ध हो जायगा कि आत्मा स्वपरका प्रकाश करनेवाला है। जैसे पहले किया अपृथग् ज्ञानमें स्वपरप्रकाशकपना सिद्ध कर चुके हैं उस ही आत्मामें भी स्वपर प्रकाशकपना निश्चय करना चाहिये क्योंकि धर्म और धर्मी एक स्वरूपमई होते हैं। जैसे अग्नि और उष्णताका एक स्वरूप है अर्थात् प्रदेश भेद नहीं है।

टीकाकार कहते हैं कि—आत्मा तो धर्मी है और ज्ञान दर्शन उसके धर्म अर्थात् स्वभाव हैं। सम्यग्दृष्टी जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान करके उस आत्मामें ही निश्चलपने अपनी स्थिति करता है तथा नित्य अभ्यासके बलसे उसका काम सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी सामग्रीरूपी हिम अर्थात् पाला उसके गलसे बाहर निकले हुए सूर्यके समान प्रकाश करता हुआ मुक्तिको प्राप्त करता है। कैसी है मुक्ति जहां स्पष्ट अपनी स्वाभाविक अवस्थासे प्रकाशमान भी सिद्ध भगवान विराजमान हो रहे हैं।

आगे व्यवहार नयकी सफलताको दिखलाते हैं—

णाणं परप्पयासं, ववहारणयेण दंसणं तम्हा।
अप्पा परप्पयासो, ववहारणयेण दंसणं तम्हा ॥ १६४ ॥

सामान्यार्थ—व्यवहार नयसे ज्ञान परको

इसलिये दर्शन भी परप्रकाशक है तथा व्यवहारनयसे जैसे आत्मा परप्रकाशक है वैसे दर्शन भी परप्रकाशक है।

विशेषार्थ—सर्व ज्ञानावरणीय कर्मके क्षय हो जानेसे प्रगट हुआ जो बिलकुल निर्मल केवलज्ञान सो किस प्रकारसे तथा किस अपेक्षासे पुद्गल आदि मूर्तीक तथा धर्मादि अमूर्तिक तथा काय चेतन अचेतन परद्रव्य तथा उनके गुण और पर्यायोंके समूहको प्रकाश करनेमें समर्थ होसकता है?

इसका समाधान यह है कि व्यवहारनयकरके प्रकाशता है क्योंकि परके आश्रितमात्रपनेहीमें व्यवहारका प्रयोजन है। जैसे कहा है "पराश्रितो व्यवहारः" इसलिये इसीप्रकार दर्शन गुण भी परका प्रकाशक है। तथा तीन लोकको आनन्दके कारण सो इन्द्रोंसे प्रत्यक्ष वन्दना योग्य श्रीतीर्थंकर परमदेव आप्त परमात्माके भी इसी ही प्रकार परपदार्थोंका प्रकाशकपना सिद्ध होता है जैसे ज्ञानके सिद्ध होता है। सो व्यवहारनयके बलकरके जानना। वैसे ही उस केवली भगवानके केवलदर्शनको भी परप्रकाशक समझना।

ऐसा ही श्रुतबिंदुमें कहा है कि सब लोकोंको विजय करनेवाले श्री जिनेन्द्र भगवान जयवन्त होहु। कैसे हैं प्रभु, जिनके चरणारविंदको मनुष्य और मनुष्योंके [illegible] चक्रवर्ती अपने मुकुटोंसे शोभायमान तथा हृदयमें पड़ी हुई मालाओं करके सहित पूजन करते हैं तथा जिनको तीन लोक और अलोक इसप्रकार एक ही समयमें प्रतिभास हो रहा है कि विपरीत पदार्थोंमें एक दूसरेके रहनेका अभाव है, अर्थात् वे द्रव्योंको पृथक् देखनेवाले हैं।

टीकाकार कहते हैं कि—जब यह आत्मा केवलज्ञानका पुञ्ज होता है और अत्यन्त प्रगटरूप केवलदर्शनका धनी होता है तब व्यवहारनय करके सर्व लोकको देखनेवाला ऐसा हो जाता है कि एक ही काल सब मूर्तीक और अमूर्तीक पदार्थ अपने

...यथं स्वरूपको लिये प्रगट होते हैं। तब ही यह आत्मा परमोत्कृष्टी श्री को एक रूपका मोहनेवाला होता है।

आगे निश्चयनयसे स्वरूप कहते हैं—

णाणं अप्पपयासं, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा।
अप्पा अप्पपयासो, णिच्छयणयएण दंसणं तम्हा ॥ १६५ ॥

सामान्यार्थ—निश्चयनयसे ज्ञान आत्माका प्रकाशक है इसलिये दर्शन भी आत्मप्रकाशक है निश्चयसे आत्मा अपने आत्माका प्रकाशक है इसलिये दर्शन भी आत्माका प्रकाश करनेवाला है।

विशेषार्थ—निश्चयनयसे स्व अर्थात् आपको प्रकाश करता है इस लिये ऐसा ज्ञानको कहा गया है तैसे ही सर्व प्रकाश... रहित होकर शुद्ध दर्शन भी आत्मस्वरूपका ही दिखानेवाला है। तथा सब इन्द्रियोंके व्यापारोंसे रहित होनेके कारण निश्चयसे आत्मा अपने आपको प्रकाश करनेवाले स्वरूपसे कथित होता है। तथा दर्शन भी बाह्य पदार्थोंसे रहित होकर अपने आपको ही ...ता करता है, यह निश्चयनयकी प्रधानता है। इस प्रकार अपने स्वरूपके प्रत्यक्ष लक्षणसे कथित यह आत्मा अखंडित अपने स्वाभाविक ज्ञान तथा शुद्ध दर्शनसे परिपूर्ण रहता है।

निश्चयनयसे यह आत्मा प्रकाश्य और प्रकाशक इत्यादि विकल्पोंसे दूर है। अर्थात् मैं प्रकाशक हूं और तीन जगत तीन कालके स्थावर और जंगमरूप सब द्रव्य तथा उनके गुण और पर्याय प्रकाश्य हैं, ऐसा विकल्प नहीं करता है। तथा यह आत्मा अपने आत्मस्वरूपहीमें अपने आत्माके ही स्वानुभव प्रकाशको प्रकाशता है। सम्पूर्णपने अन्तरंग लीन होकर ...या द्वैतभावरहित चैतन्यके चमत्कारकी मूर्तिरूप ... है।

टीकाकार कहते हैं कि—निश्चयसे आत्मा ही अपने आत्मस्वरूपको प्रकाश करनेवाला ज्ञानरूप है तथा बाह्य आलंबनसे रहित साक्षात् जो दर्शन वह रूप ही आत्मा है। अपने एक आकारको लिये हुये अपने आत्मिक रससे पूर्ण पवित्र समीचीन ऐसा जो आत्मा सो अपनी विकल्परहित महिमामें नित्य वास करता है।

आगे शुद्ध निश्चय नयकी अपेक्षासे आत्मा परका देखनेवाला है इस बातका निराकरण करते हैं—

अप्पसरूव पेच्छदि, लोयालोय ण केवली भयव।
जइ कोई भणइ एव, तस्स य किं दूसण होई ॥ १६६ ॥

सामान्यार्थ—केवली भगवान् आत्मस्वरूपको देखते हैं, लोक और अलोकको नहीं देखते हैं, जो कोई इस प्रकार कहे उसको क्या दूषण दिया जा सकता है?

विशेषार्थ—व्यवहारनयकरके पुद्गल आदि द्रव्योंके तीनकाल संबंधी गुण पर्यायोंको एक समयमें जाननेको समर्थ ऐसा जो सम्पूर्णपने निर्मल केवलज्ञान उसको आदि ले नाना प्रकारकी महिमाको धारण करनेवाला होनेपर भी वह भगवान केवल दर्शनरूप तीसरे नेत्रको धारनेवाला है तथापि वह भगवान अत्यन्त निरपेक्ष होकर पूर्णपने अंतरंगमें लीन होता है तथा अपने केवल स्वरूप प्रत्यक्ष मात्र व्यापारमें तल्लीन निरंजन ऐसे अपने कारणस्वभावको स्वाभाविक रीतिसे देखनेके कारण वह प्रभु निश्चयनयसे सच्चिदानंदमई आत्माको ही देखता है।

भावार्थ—व्यवहारनयसे ऐसा कहनेमें आता है कि केवली भगवान लोकालोकको देखते हैं परन्तु निश्चयसे वे अपने शुद्ध स्वरूपको ही देखते हैं। शुद्ध निश्चयनयकी अपेक्षासे जो कोई शुद्ध अंतरंग तत्त्वके ज्ञाता परम जिते योगीश्वर हैं वे ऐसा ही कहते हैं। उनको निश्चयसे कोई दूषण नहीं होता है।

टीकाकार कहते हैं कि—वे तीर्थंकर श्री जिनेन्द्र भगवान अपने स्वरूपमें भले प्रकार वर्तन कर रहे हैं। कैसे हैं प्रभु, जो तीन लोकके गुरु हैं, शाश्वत और अनंत ज्योतिके धारी हैं तथा अपने केवलज्ञानरूपी तृतीय नेत्रकरि जिनकी महिमा प्रगट है। कैसा है केवलज्ञान, जो लोक और अलोकको तथा आप और पर समस्त चेतन अचेतन द्रव्योंको देखनेवाला है।

आगे कहते हैं कि केवलदर्शनके अभावसे केवलीके सर्वज्ञपना नहीं हो सकता—

पुव्वुत्तसयलदव्वं, णाणा गुणपज्जएण संजुत्तं।
जो ण य पेच्छइ सम्मं, परोक्खदिट्ठी हवे तस्स ॥ १६८ ॥

सामान्यार्थ—पूर्वमें कहे गए सम्पूर्ण द्रव्योंको नाना गुण और पर्यायोंकरके सहित जो कोई भले प्रकार नहीं देखता है उसके परोक्ष दृष्टि होती है।

विशेषार्थ—पूर्व सूत्रमें कहे हुए जो मूर्तादि द्रव्य तथा उनके गुण और पर्याय हैं उनमें मूर्तीक द्रव्यके मूर्तीक गुण हैं, अचेतन पदार्थके अचेतन गुण हैं, अमूर्तीकके अमूर्तीक गुण हैं तथा चेतनके चेतनमई गुण हैं। पर्याय दो प्रकारकी हैं—एक अर्थपर्याय दूसरी व्यंजन पर्याय।

षट्गुणी वृद्धि हानिरूप अत्यंत सूक्ष्म परमागमके द्वारा जानने योग्य जो द्रव्योंके गुणमें स्वाभाविक परिणमन सो अर्थपर्याय है। यह अर्थपर्याय सर्व छः द्रव्योंमें साधारण है। पांच प्रकार द्रव्य क्षेत्र काल भव भावरूप संसारमें परिभ्रमण करनेवाले जीवोंके नर नारक देव पशु वदनके भेदरूप जो पर्याय सो जीवकी व्यंजन पर्याय है। पुद्गलकी अति स्थूल, स्थूल, स्थूल, सूक्ष्म आदि छः प्रकार व्यंजन पर्याय हैं। धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन चार

भी कोई दोष नहीं हो सकता है।

भावार्थ—यह व्यवहारनय दूसरेके निमित्त व सहारेसे माने हुए स्वरूपको कहनेवाली है–लोकालोक सर्व ही शुद्धात्मस्वरूपसे भिन्न हैं। उनको ज्ञाता कहना सो व्यवहारनयका विषय है। तथा यह आत्मा अपने शुद्ध स्वरूपको जानता है यह विषय निश्चय नयका है क्योंकि निश्चय नय स्वाश्रित है।

श्रीसमन्तभद्राचार्यस्वामीने कहा है कि—यह चर और अचर जगत प्रत्येक समय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप है–यह लक्षण सर्वज्ञ द्वारा सिद्ध है, हे व्याख्यान करनेवालोंमें श्रेष्ठ! तुम्हारा ऐसा ही वचन है।

टीकाकार कहते हैं कि—जीवनाथ श्रीजिनेन्द्र इस सर्व लोकको जानते हैं तथा एक कर्मरहित अपने सुखमें लीन ऐसे अपने आत्माको नहीं जानते हैं ऐसा भी यदि कोई मुनि व्यवहारमार्गको अवलम्ब कहता है तो भी उस मुनिको दोष नहीं है।

अब विशेषकरके कहते हैं कि यह जीव ज्ञानस्वरूप है—

णाणं जीवसरूवं, तह्मा जाणेइ अप्पगं अप्पा।
अप्पाणं णवि जाणदि, अप्पादो होदि विदिरित्तं ॥ १७० ॥

सामान्यार्थ—ज्ञान जीवका स्वरूप है इसलिये आत्मा निश्चयसे अपने आत्मस्वरूपको जानता है। यदि ज्ञान अपने आत्माको नहीं जानता है तो ज्ञान आत्मासे अलग हो जायगा।

विशेषार्थ—ज्ञान जीवका स्वरूप ही है। इसलिये ऐसे ज्ञानका धारी कोई भव्य आत्मा संकरहित, द्वैतरहित, अपने स्वभावमें लीन अत्यंत अतिशय भावका स्वामी, मुक्तिरूपी स्त्रीका नाथ, तथा बाह्यचेष्टासे रहित ऐसे परमात्माको जानता है।

कभी मिटता नहीं है। इसलिये इस आत्माको स्वभावसे अपवित्र इच्छा करता हुआ हो जो प्राणी है उसे इस आत्माकी ज्ञान ज्योतिकी भावना योग्य है।

टीकाकार कहते हैं कि—यह ज्ञान शुद्ध जीवका स्वरूप है। इसी ही ज्ञानसे यह आत्मा अपने एक आत्माको जानता है। यह ज्ञान प्रगटपने अपनी स्वाभाविक अवस्थासे अपने ही निकट जीवरूप आत्मस्वरूपसे अपने आत्माको भिन्न नहीं जानता है।

जैसे कहा है कि ज्ञान जीवसे पृथक् नहीं है। ज्ञान ही करके आत्मा जाननेमें आता है। यदि ज्ञान आत्माको भिन्न जानता है तो यह ज्ञान जीवसे भिन्न हो जायगा।

आगे कहते हैं कि गुण और गुणीके भेदका अभाव है—

अप्पाण विणु णाण, णाण विणु अप्पगो ण संदहो।
तम्हा सपरपयास, णाण तह दंसण होदि ॥ १७१ ॥

सामान्यार्थ—आत्माको ज्ञान जानो। ज्ञानको आत्मा जानो। इसमें कोई सन्देहकी बात नहीं है इसलिये ज्ञान स्व और परको प्रकाशनेवाला है वैसे ही दर्शन भी है।

विशेषार्थ—हे शिष्य! सम्पूर्ण पर द्रव्योंसे विमुख ऐसे आत्माको अपने ही स्वरूपके जाननेमें शक्तिमान एवं सहज ज्ञानस्वरूप तुम जानो। इसलिये जो विज्ञान है सो ही आत्मा है ऐसा अनुभव करो। आत्मीक तत्व स्वपर प्रकाशक है वैसे ही उसके गुण ज्ञान और दर्शन दोनों स्वपर प्रकाशक हैं। इसमें कोई शंकाका स्थान नहीं है।

टीकाकार कहते हैं कि—आत्मा ज्ञान दर्शन स्वरूप है। सहज ज्ञानस्वरूप आत्माहीको अनुभव करो। आत्मा अपने और दूसरे समस्त तत्वोंको प्रगटपने उद्योत करनेवाला है।

आगे सर्वज्ञ वीतराग भगवानके वांछाका अभाव है ऐसा दिखावे है—

जाणतो पस्सतो, ईहापुव्वं ण होइ केवलिणो।
केवलिणाणी तम्हा, तेण दु सोऽणाघणो भणिदो ॥ १७२ ॥

सामान्यार्थ—केवली भगवानके जानना देखना इच्छापूर्वक नहीं होता है। इसी कारणसे केवलज्ञानी हैं और इसीसे उनको बंधरहित कहागया है।

विशेषार्थ—भगवान अर्हंत परमेष्ठी आदि रहित और अंत रहित अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाववान हैं। शुद्ध सद्भूत व्यवहार नयकरके केवलज्ञान आदि अपने शुद्ध गुणोंके आधाररूप हैं, इस हेतुसे बिना परिश्रमके सब जगतको जानते देखते हैं तौ भी मनकी प्रवृत्तिके बिना ईहापूर्वक उनका वर्तन उन केवली परम भट्टारकके नहीं होता है। इसी कारण वे भगवान केवलज्ञानी इस नामसे प्रसिद्ध हैं तथा इसीलिये वे भगवान कर्मके बंधसे रहित हैं।

भावार्थ—इच्छा होनेहीसे राग सिद्ध होता है और राग ही बंधका कारण है। प्रभुके राग न होनेसे बंध नहीं होता, केवल ईर्यापथ आस्रव योग-परिस्पंदसे होता है परंतु कषाय बिना ठहरता नहीं है।

श्रीप्रवचनसारमें ऐसा ही कहा है कि—वह पदार्थोंके स्वरूप आप न तो परिणमन करता है न उन्हें ग्रहण करता है न उन रूप आप उत्पन्न होता है केवलमात्र जानता है, इसीसे ही आत्मा अबंधक है।

टीकाकार कहते हैं कि—श्री जिनेन्द्रदेव सर्व देवोंमें श्रेष्ठ देव हैं। यह उनके स्वभावकी महिमा है जिससे वे तीन लोकरूपी भवनके भीतरके सब पदार्थोंको जानते और देखते हैं। मोहका

प्रभुके सर्वथा अभाव है इसलिये अपने आत्मा सिवाय अन्य किसी भी पर पदार्थको ग्रहण नहीं करते हैं। वे भगवान नित्य अपनी ज्ञानज्योतिसे कर्मरूपी मलके समूहको नष्ट करनेवाले हैं तथा सर्व तीन लोकके एक साक्षीभूत हैं अर्थात् मात्र दर्शक हैं उनसे कोई सम्बन्ध नहीं है।

आगे कहते हैं कि ज्ञानीके बंधका अभाव है—

परिणामपुव्ववयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई।
परिणामरहियवयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥ १७३ ॥
ईहापुव्वं वयणं, जीवस्स य बंधकारणं होई।
ईहारहियं वयणं, तम्हा णाणिस्स ण हि बंधो ॥ १७४ ॥

भावार्थ—मनके परिणमनपूर्वक जो वचन जीवके निकलते हैं वे बंधके कारण होते हैं परन्तु जो वचन मनकी परिणतिके बिना निकलते हैं वे बंधके कारण नहीं हैं। इसीसे सम्यग्ज्ञानीके बंध नहीं होता। जो वचन इच्छापूर्वक जीवके होवेंगे वे वचन बंधके कारण होवेंगे परन्तु जो इच्छारहित वचन हैं सो बंधके कारण नहीं हैं। इसीलिये सम्यग्ज्ञानी केवलज्ञानीके बंध नहीं होता।

विशेषार्थ—सम्यग्ज्ञानी केवलज्ञानी जीव कहीं कभी भी अपनी बुद्धिपूर्वक वचन नहीं कहता है अर्थात् उसके मनके परिणाम नहीं चलते क्योंकि सिद्धान्तका वचन है कि 'अमनस्का केवलिन' अर्थात् केवली भगवान मन रहित हैं।

भावार्थ—केवलीके संकल्प विकल्पमई मनका अभाव है। इस कारणसे जीवके वे ही वचन बंधके कारण हैं जो मनकी परिणतिपूर्वक कहे गये हैं। केवली भगवानके मनपरिणतिपूर्वक वचनोंका प्रगटपना नहीं होता। इच्छापूर्वक वचन ही जीवको

बंधके कारण होते हैं। केवली महाराजके मुखकमलसे प्रगट जो दिव्य-ध्वनि सो भगवानकी इच्छाबिना ही प्रगट होती है।

भावार्थ—उसकी प्रगटतामें भव्य जीवोंके पुण्यका उदय ही कारण है। वह वाणी समस्त सभामें विराजित मनुष्योंके हृदय कमलोंको आनन्द देनेवाली है। इसलिए जो सर्वज्ञ वा केवलज्ञानी हैं उनके बन्धका अभाव है।

टीकाकार कहते हैं कि—श्री केवली भगवानके इच्छापूर्वक वचनोंकी रचना नहीं होती है यह इनकी प्रधान महिमा प्रगट है। प्रभु समस्त जगतके एक मात्र रक्षक हैं। बंध बांधनेका कारण मोह प्रभुके नहीं है तब किस प्रकारसे भगवानके द्रव्य और भाव बन्ध हो सके क्योंकि रागद्वेषादिका कारण मोहके बिना निश्चयसे होता ही नहीं है।

चार घातिया कर्मोंके नाशक केवली भगवान तीनलोकके गुरु महादेव हैं, अपने सम्यग्ज्ञानमें विराजमान हैं। सम्पूर्ण लोक मध्य जो वस्तुओंके समूहोंके ज्ञाता हैं। ऐसे जो केवली भगवान जिनप्रभु में न तो कोई बंध है और न कोई मोक्ष है और न वहां मूर्छा है न कर्म और कर्मफलमई चेतना है

इन केवली जिन प्रभु में धर्म और कर्मोंका प्रपंचमात्र नहीं है। रागके अभावसे अपनी अतुल महिमाको लिये हुए वीतराग स्वरूप हैं तथा अपने आत्मिक सुखमें लीन हैं, चिदानन्दी लोकके स्वामी हैं तथा अपना ज्ञानज्योतिसे समस्त भुवनके पदार्थोंको चारों ओरसे प्रगट करनेवाले हैं।

आगे केवली भट्टारक अमनस्क हैं इस बातको प्रकाश करते हैं।

ठाणणिसेज्जविहारा, ईहापुव्व ण होई केवलिणो।
तम्ह [illegible] बंधो, साकट्ठ मोहणियस्स ॥ १७४

भावार्थ—तिष्ठना, बैठना तथा विहार केवली भगवानके इच्छापूर्वक नहीं होते हैं इसीलिए उनके बंध नहीं होता है। मोहनीय कर्मसहित जीवके इन्द्रियोंके प्रयोजन सहित होनेहीसे बंध होता है।

विशेषार्थ—परम उग्र तपनेकी लक्ष्मीसे शोभायमान परम वीतराग सर्वज्ञ केवली भगवानके कोई भी वर्तन इच्छापूर्वक नहीं होता है। इसीलिए वे भगवान मनकी प्रवृत्तिके अभाव होनेपर 'अमनस्का केवलिनः' इस सिद्धांतके अनुसार न तो वांछापूर्वक तिष्ठते हैं, न बैठते हैं और न विहार आदिक करते हैं। इसकारणसे उन तीर्थंकर परमदेवके द्रव्य और भावमई कोई बंध नहीं होता है अर्थात् चारों बंध नहीं होते हैं। आगममें जो योगकी प्रवृत्तिके निमित्तसे प्रकृति और प्रदेशबंध कहा है वो उपचार मात्र है। जो मोहनीय कर्मके विलासमें आधीन हैं उन्हींके यह बंध होता है। किसलिए होता है, उसका कारण यही है कि उनके इन्द्रियोंके विषयोंका प्रयोजन है। अर्थात् मोहनीय कर्मके वशमें पड़ेहुए इन्द्रियोंके विषयोंके अभिप्रायको धारनेवाले संसारी जीवोंके ही यह बंध होता है।

ऐसा ही प्रवचनसारमें कहा है—खड़ा होना, बैठना, विहार करना व धर्मोपदेश होना यह अर्हत अवस्थाके कालमें नियमसे) होता है, जैसें स्त्रियोंके मायाचार नियमसे होता है।

टीकाकार कहते हैं कि—जिसके प्रगट होते ही इन्द्रोंके ।सन कंपायमान होते हैं ऐसे केवलज्ञानके उदय होनेपर केवली ।वानका सर्व वचन मनकी प्रवृत्ति रहित होता है। कैसे हैं ., मुक्तिरूपी सुंदर स्त्रीके मुखकमलके प्रफुल्लित करनेको ।के समान हैं तथा सत्य धर्मके रक्षाकेलिये मणिसमान हैं। ।पुरुषके मनका अभाव है। यह सब भगवानके उत्कृष्ट अगम्य महिमा है। कैसे हैं भगवान जो पापरूपी वनीके

नाश करनेकेलिये अग्निके समान हैं।

आगे शुद्धजीवको अपनी स्वभावमई गतिको प्राप्त करनेके उपायका संक्षेप कथन करते हैं—

आउस्स खयेण पुणो, णिण्णासो होइ सेसपयडीण।
पच्छा पावइ सिग्घं, लोयग्गं समयमेत्तेण॥ १७६॥

सामान्यार्थ—आयु कर्मके नाश होते ही शेष कर्मोंकी सब प्रकृतियोंका नाश हो जाता है फिर यह जीव शीघ्र ही एक समयमात्रमें जाकर लोकके अग्रभागमें विराजता है।

विशेषार्थ—जब केवली भगवान अपने स्वभावके भीतर जो क्रिया उसमें परिणमनरूप होते हैं तब उनके परम शुक्ल ध्यान अर्थात् चौथे शुक्लध्यानसे आयुकर्मके क्षय होते २ ही वेदनीय, नाम और गोत्र ऐसे तीन कर्मोंकी शेष प्रकृतियोंका नाश हो जाता है।

कैसे हैं केवली भगवान, जो उस समय पृथ्वी आदि घातक जीवोंके क्रमसे अलग हो जाते हैं तथा सिद्ध होनेके सन्मुख होते हैं। तथा कहा है वह शुक्लध्यान जो ध्यान, ध्याता और ध्यानका फल इत्यादि प्रयोजनोंके विकल्पोंसे शून्य है तथा अपने आत्मीक स्वरूपमें निश्चल स्थितिरूप है। सब कर्मोंके नाश होनेपर केवलज्ञानी भगवान शुद्ध निश्चयनयकरके अपने निजस्वरूपको स्वाभाविक महिमामें लीन हैं तोभी व्यवहार नयकरके वे भगवान उस क्षणमें अर्थात् एक समयमें लोकके अग्रभाग तनुवात वलयमें आ विराजते हैं। यह गति स्वभावसे ही होती है। जहांतक धर्म द्रव्य है वहांतक गमन होता है।

कहते हैं कि—षट् कायके क्रमसे
जीवोंका कहना अलग है, इसलिये वे

ऊर्ध्व गमन करते हैं और सदाशिव (कल्याण) रूप मोक्षस्वरूपमें निश्चल तिष्ठते हैं। बंधके छेद होजानेसे भी सिद्ध भगवान अपनी अतुल महिमासे विराजमान रहते हैं उपयमय देव और विद्याधर प्रत्यक्ष रूपसे उनकी स्तुति नहीं करसकते। व देवोंके प्रसिद्ध सिद्ध नयसे अपने आत्मस्वरूपमें ही अविचल रूपसे तिष्ठते हैं।

द्रव्य, क्षेत्र, काल भव, भावरूप पांच प्रकार संसारसे मुक्त पंचमगति धारी तथा पांच प्रकार संसारसे छुड़ानेके कारण ऐसे सिद्धोंको मैं पांच प्रकार संसारसे मुक्ति पानेकेलिये वंदना करता हूं।

आगे कारणतत्वका स्वरूप कहते हैं—

जाइजरमरणरहिय, परम कम्मट्ठवज्जिय सुद्ध ।
णाणाइचउसहावं, अक्खयमविणासमच्छेय ॥ १७७ ॥

भावार्थ—जन्म, जरा, मरणसे रहित उत्कृष्ट, अष्ट कर्मोंसे दूरवर्ती, शुद्ध, ज्ञान दर्शन सुख वीर्य चार स्वभावधारी, क्षयरहित, विनाश बिना तथा छेदरहित, जो तत्त्व है वही कारण परमात्मा है।

विशेषार्थ—स्वभाव हो जिसके संसारमें भ्रमणका अभाव है इसलिये यह तत्त्व जन्म जरा मरणसे रहित है। अपने उत्कृष्ट पारिणामिक भावको रखनेके कारण परमस्वभावमई होनसे परम (महान) है तीनों कालोंमें उपाधिरहित है स्वभाव जिसका ऐसा होनेसे आठों कर्मोंसे रहित है तथा द्रव्यकर्म और भाव कर्मोंसे रहित है इस कारण शुद्ध है।

स्वाभाविक ज्ञान, स्वाभाविक दर्शन, स्वाभाविक चारित्र तथा स्वाभाविक चैतन्य शक्तिको धारण करनेके कारण यह स्वरूपज्ञानादि चार स्वभावरूप है।

सादि सहित और अन्त सहित मूर्तीक इंद्रियमई विजातीय विभाव व्यंजन पर्याय अर्थात् नर नारकादि पर्यायोंके

अभावसे वह तत्त्व क्षयरहित है, शुभ अशुभ गतियोंमें प्राप्त होनेके लिये कारणभूत जो पुण्य और पापकर्म इन दोनोंके अभावसे वह तत्त्व विनाशरहित है तथा वध, बंध और छेदन योग्य मूर्तिके अभावसे वह तत्त्व अच्छेद्य है। यथा वह कारण तत्त्व अर्थात् परमात्मा है।

टीकाकार कहते हैं कि—हे भव्य जीव! तू जिनेन्द्र भगवान्‌द्वारा प्रगट जो दिव्य सुखरूपी अमृत उसको हो बारबार भज। भावार्थ-परम स्वरूपका मनन कर क्या है वह अमृतमई तत्त्व जो व्यक्त है, अव्यक्त या नष्ट है, दुखनाश रहित है, शिव है, तथा समस्त पापरूपी निर्जीव वृक्षोंका जलानेके लिये अग्निके समान है। इसीसे तुझे परम निर्मल [illegible] लाभ होवेगा।

फिर भी निरुपाधि अर्थात् उपाधिरहित है स्वरूप जिसका ऐसे कारणके धारी परमात्म तत्त्वका स्वरूप कहते हैं —

अव्वाबाहमणिंदिय,-मणोवम पुण्णपावणिम्मुक्कं।
पुणरागमणविरहियं, णिच्च अचल अणालम्ब ॥ १७८ ॥

सामान्यार्थ —वह परमात्म तत्त्व अव्याबाध अर्थात् बाधारहित है अतीन्द्रिय अर्थात् इन्द्रियोंका जहां गम्य नहीं है अनुपम अर्थात् उपमा रहित है, पुण्य और पापसे दूर है। पुन संसारमें आगमनसे रहित है, नित्य है अविचल है तथा आलम्बरहित है।

विशेषार्थ —सम्पूर्ण पापरूपी वीर वैरियोंकी जो सेना उसके प्रवेशसे अगोचर ऐसे स्वाभाविक ज्ञानरूपी किलेमें निरन्तर स्थान होनेके कारण वह शुद्ध आत्मीक तत्त्व अव्याबाध है अर्थात् कोई बाधा नहीं दे सकता। सब आत्माके प्रदेशोंमें निर्मल चित् और आनन्द भरा हुआ है इस कारण अतीन्द्रिय है। तीनों तत्त्वोंमें अर्थात् बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीनोंमें यह श्रेष्ठ है इससे अनुपम है।

संसाररूपी स्त्रीके संभोगमें उत्पन्न जो सुख और दुःख उनके अभावसे जो पुण्य और पापसे रहित है। संसारमें बार बार जन्म लेनेके कारण जो शुभ अशुभ मोह राग द्वेष आदि भाव हैं उनके अभावसे जो पुनरागमनसे रहित है। नित्य मरण अर्थात् श्वासोच्छ्वास द्वारा मरण अथवा आयु कर्मके निषेकोंका निरंतराहव मरण तथा तद्भव मरण अर्थात् उस भवको छोड़कर अन्य भवमें जाना इन दोनों प्रकारके मरणोंका कारण जो कलेवर अर्थात् शरीर उसके सम्बन्धके अभावसे जो नित्य है। अपने आत्मीक गुणोंसे न छूटनेके कारण अचल है। तथा परद्रव्योंके आलम्बनके न होनेसे जो निरालम्ब है।

ऐसा ही श्री अमृतचन्द्र सूरीने कहा है—अनादि कालसे इस संसारमें यह रागी अन्ध जीव प्रत्येक अवस्थामें नित्य उन्मत्त होकर जिस पदमें सो रहे हैं अर्थात् अपने स्वरूपसे गाफ़िल हैं वह अपद है। पद नहीं है ऐसा जानना चाहिये। जो सत्पुरुष हैं वे उसी पदको ग्रहण करते हैं जहां चैतन्य धातु अत्यन्त शुद्ध अपने आत्मीक रससे भरी हुई स्थायीपनेको प्राप्त हो रही है।

टीकाकार कहते हैं कि—जिस संसारमें सदा ही औदयिक आदि पांच प्रकार भाव हुआ करते हैं ऐसे सर्वथा राग और द्वेषके समूहरूप संसारको त्यागकरके अर्थात् संसारसे वैराग्यभाव धार करके जो कोई बुद्धिमान मुनि है वह उस उत्कृष्ट पञ्चम पारिणामिक भावको समझता है जो भाव सदा रहनेवाला, संसारके नाशका कारण तथा सम्यग्दृष्टियोंके अनुभवगोचर है तथा वही एक मुनिपति इस पंचमकालमें पापवनीको दग्ध करनेके लिये अग्नि समान आचरण करता हुआ शोभाको पाता है।

आगे कहते हैं कि संसार दशाकी सर्व विकारोंके समूहोंको दूर करनेहीसे निर्वाण प्राप्त होता है—

णवि दुक्खं णवि सुक्खं, णवि पीडा णेव विज्जदे बाहा।
णवि मरणं णवि जणणं, तत्थेव य होइ णिव्वाणं ॥१७९॥

भावार्थ—जहां न तो कोई दुःख है न सुख है न पीड़ा है और न कोई बाधा है, न जहां मरण है न जन्म है वहीं निर्वाण होता है।

विशेषार्थ—राग द्वेष रहित रत्नत्रयस्वरूप परमात्मा निरन्तर शुद्ध रहकर परम अध्यात्म स्वरूपमें तन्मय रहता है ऐसे परमात्माके अशुभ परिणति नहीं है। इस कारण अशुभ कर्मका बंध नहीं है। अशुभ कर्मबंधके अभावसे उसके उन कर्मोंका फलस्वरूप कोई दुःख नहीं है। तथा शुभ परिणामोंके अभावसे उसके शुभ कर्मोंका बंध नहीं है।

शुभ कर्मबंधके न रहते हुए उसके फलस्वरूप सांसारिक सुख नहीं है। पीड़ा सहन योग्य वेदनास्वरूप पुद्गलमई शरीरके अभावसे उसे कोई पीड़ा नहीं है।

असाता वेदनी कर्मके नाश होनेके कारण उसे कोई बाधा (आपत्ति) नहीं है। आहारक, वैक्रियिक, औदारिक, भाषा और मन वर्गणा ऐसे पांच प्रकार कर्मोंके अभावसे जिसके मरण नहीं है। तथा इन पांच प्रकार कर्मके कारणभूत द्रव्य कर्मरूपी पुद्गलोंके ग्रहणके अभाव होनेसे उसके जन्म नहीं है। ऐसे लक्षणोंसे लक्षित अखण्ड विक्षेपरहित परम तत्त्वस्वरूपको ही सदा निर्वाण है।

टीकाकार कहते हैं कि—जिसके सदा ही सांसारिक सुख दुःख नहीं है, न जिसके कोई बाधा है, न मरण है, न पीड़ा है उसी ही आत्मतत्त्वको मैं सदा नित्य कामदेवके सुखसे विमुख होकर मुक्तिके सुखके लिये नमस्कार करता हूं, उसीकी स्तुति करता हूं ... भावना भाता हूं। जो आश्चर्य तत्त्वको

आराधनासे रहित है, वह अपराधी है, ऐसा आगममें कथित है। मैं नित्य ही आनन्दके मंदिर आत्माको नमस्कार करता हूं।

फिर भी परम निर्वाणके योग्य जो परम तत्व उसीका स्वरूप कहते हैं—

णवि इंद्रिय उवसग्गा, णवि मोहो विम्हियो ण णिद्दा य।
ण य तिण्हा णेव छुहा, तत्थेव य हवदि णिव्वाणं ॥१८०॥

भावार्थ—जहां न तो इंद्रियां हैं, न उपसर्ग हैं, न कुछ मोह है, न आश्चर्य है, न निद्रा है, न तृष्णा है और न क्षुधा है वहीं निर्वाण है।

विशेषार्थ—वह तत्व अखण्ड एक अपने प्रदेशोंमें ज्ञानस्वरूप है, इस कारण उसके स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र ऐसे पांच इंद्रियोंका व्यापार नहीं है। देव, मनुष्य, तिर्यंच, चेतन अचेतन कृत उपसर्ग जिसको नहीं है। क्षायिक ज्ञान तथा यथाख्यात चारित्रमई होनेसे उसके न तो दर्शन मोहनी है, न चारित्र मोहनी है—दोनों प्रकारका मोह नहीं है। बाह्य प्रपंच आडम्बर जो रहित है इस कारण उसके कोई विस्मय अर्थात् आश्चर्य नहीं है।

नित्य प्रकाशमान है शुद्ध ज्ञानस्वरूप जिसका ऐसा होनेसे उसके कोई निद्रा नहीं है, तथा असाता वेदनी कर्मको जड मूलसे नाश करनेके कारण उसके न तो क्षुधा है, न तृषा है, वह तो परमब्रह्म स्वरूपमें नित्य मग्न रहता है।

ऐसा ही अमृतशीतीमें कहा है कि, जहां उग्र जन्म तथा जरा कृत वेदना नहीं होती, न जहां मरण है, न वहांसे आना है, न कहीं जाना है, ऐसा तत्व श्री गुरुओंमें श्रेष्ठ ऐसे श्रीगुरुके चरण-कमलोंकी सेवाके प्रसादसे हम लोगोंको भी अपने अत्यन्त निकट

जिससे मोक्ष प्राप्त होता है।

टीकाकार कहते हैं कि—जिस विकल्परहित, तथा अनुपम गुणोंसे अलंकृत अद्वाचरूपमें इन्द्रियोंका नानाप्रकारका प्रधानरूपसे रहना कुछ भी नहीं है, न जहां संसारके मूल कारण ऐसे अन्य स्वाभाविक गुणोंके समूह हैं ऐसे ही परमात्म स्वरूपमें आत्मीक सुखस्वरूप अविनाशी ऐसा निर्वाण ही प्रकाशमान होता है।

आगे सर्व कर्मोंसे रहित, शुभ अशुभ तथा शुद्ध ध्यान और ध्येय इत्यादि विकल्पोंसे मुक्त जो परम तत्व उसके स्वरूपको कहते हैं—

> णवि कम्मं, णोकम्मं, णवि चिंता णेव अट्टरुद्दाणि।
> णवि धम्मसुक्कझाणे, तत्थेव य होइ णिव्वाण ॥ १८१ ॥

सामान्यार्थ—न तो जहां द्रव्य कर्म हैं, न जहां नो कर्म हैं, न चिंता है, न आर्त और रौद्रध्यान है तथा जहां धर्म और शुक्लध्यान भी नहीं है। इसी अवस्थामें निर्वाण होता है।

विशेषार्थ—वह परम तत्व सदा निरंजन अर्थात् कर्मरूपी अंजनसे रहित है इस कारण उसके आठों ही जातिके द्रव्य कर्म नहीं हैं, तीनोंकालोंमें उपाधिरहित स्वरूपका धारी है इससे उसके पांचों नो कर्म नहीं हैं मनरहित है इस कारण उसके कोई चिंता नहीं है, औदयिक आदि विभाव भावोंका जहां अभाव है इससे जहां आर्त और रौद्रध्यान नहीं है।

धर्म और शुक्लध्यान करनेके योग्य अंतिम औदारिक शरीरके न रहनेसे उसके न धर्मध्यान है, न शुक्लध्यान है। ऐसे ही परम तत्वमें निर्वाणका सदा आदर भाव करना है।

टीकाकार कहते हैं कि—सब कोई अंधकारके समूह जहां नाश हो गया है ऐसे निर्वाणके अन्दर कोई नहीं है, न जहां चारों ध्यानोंमेंसे कोई ध्यान है।

जब परमब्रह्मस्वरूप ज्ञानका पुंज सिद्धरूप हो जाता है तब कोई ऐसी मुक्तिकी अवस्था हो जाती है जो वचन और मनसे दूर है अर्थात् न तो जिसे कह सकते और न मनसे विचार सकते हैं।

आगे कहते हैं कि श्री सिद्ध भगवानके स्वभाव गुण होते हैं—

विज्जदि केवलणाणं, केवलसोक्खं च केवलं विरियं।
केवलदिट्ठि अमुत्तं, अत्थित्तं सप्पदेसत्तं ॥ १८२ ॥

भावार्थ—उन सिद्ध भगवानके केवल ज्ञान, केवल सुख, केवल वीर्य, केवल दर्शन, अमूर्तीकपना, अस्तित्वभाव तथा सप्रदेशीपना अर्थात् असंख्यात प्रदेशीपना होता है।

विशेषार्थ—सम्पूर्णपने अंतरंगके सन्मुख होकर अपने ही आत्माका है आश्रय जिसमें ऐसे निश्चय परम शुक्लध्यानके बलसे जिनके ज्ञानावरणादि आठ कर्म नाश हो जाते हैं उन भगवान सिद्ध परमेष्ठीके केवलज्ञान केवलदर्शन केवलवीर्य केवलसुख अमूर्तत्व अस्तित्व और सप्रदेशत्व आदि सर्व स्वाभाविक गुण होते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि—कर्मबंधके छेद होनेसे श्री भगवान अरहंत परम शुद्ध होकर प्रसिद्ध सिद्ध हो जाते हैं। ऐसे सिद्ध भगवानमें नित्य ये केवलज्ञान केवलदर्शन होते हैं जो साक्षात् सर्व पदार्थोंको जानने देखनेवाले हैं तथा उसी सिद्ध परमेष्ठीको अत्यंत तथा अंतररहित सुख होता है तथा अनंत वीर्य आदि अनेक गुणरूपी मणियोंके समूह परम शुद्ध अवस्थामें नित्य होते हैं।

आगे सिद्ध अविद्ध जीवमें एकता दिखाते हैं—

णिव्वाणमेव सिद्धा, सिद्धा णिव्वाणमिदि समुद्दिट्ठा।
कम्मविमुक्को अप्पा, गच्छइ लोयग्गपज्जंतं ॥ १८३ ॥

सामान्यार्थ—निर्वाण ही सिद्ध है तथा सिद्ध जीव ही निर्वाण है ऐसा कहा गया है। जो आत्मा कर्मोंसे रहित होता है वह लोकके अग्रभागतक जाता है।

विशेषार्थ—निर्वाणशब्दके यहां दो अर्थ हैं। सिद्ध भगवान व्यवहारनयसे सिद्ध क्षेत्रमें तिष्ठते हैं परन्तु निश्चयसे भगवान अपने स्वरूपमें ही ठहरते हैं। इस कारण जो निर्वाणरूप है वही सिद्ध हैं और जो सिद्ध हैं वह निर्वाणरूप है। इस क्रमसे निर्वाण शब्द और सिद्ध शब्दकी एकता वाचक हुई। तथा जो कोई आसन्न निकट भव्य जीव है वो परम गुरुकी कृपासे प्राप्त जो परमभाव उसकी बार २ भावना करनेसे सब कर्म कलंककी कीचड़से मुक्त होकर परमात्मा होता हुआ लोकके अग्रपर्यंत चला जाता है। और इस प्रकार निर्वाण प्राप्त कर सिद्ध हो जाता है।

टीकाकार कहते हैं कि—जिनमतमें मुक्ति और मुक्तजीवमें कोई भी भेद नहीं प्रगट है, न कोई भेद युक्तिसे मालूम होता है और न आगमसे। तथा यदी संसारी भव्यजीव जब सर्व कर्मोंका नाश कर देगा तब परम मुक्तिरूपी सुन्दर कामनीका मोहनवाला हो जावेगा।

आगे कहते हैं कि सिद्ध क्षेत्रके ऊपर जीव और पुद्गलोंका गमन नहीं होता—

जीवाण पुग्गलाणं, गमणं जाणेहि जाव धम्मत्थ।
धम्मत्थिकायभावे, तत्तो परदो ण गच्छंति ॥ १८४ ॥

सामान्यार्थ—जहांतक धर्मास्तिकाय द्रव्य है वहांतक जीव और पुद्गलोंका गमन होता है ऐसा मैं जानता हूं। धर्मास्तिकायके अभावसे उसके ऊपर कोई नहीं जा सकता है।

विशेषार्थ—जीवोंकी स्वाभाविक क्रिया सिद्ध क्षेत्रमें गमन है तथा विभावक्रिया छः कायके प्राणियोंके क्रमकरके सहित है अर्थात् छः कायोंमें भ्रमण करना है।

पुद्गलोंमें स्वभावसे गति करनेवाला एक परमाणु होता है तथा दो परमाणुओंके स्कंध इनको आदि ले जो पुद्गलके स्कंध हैं वे विभाव क्रियावान हैं, इसकारण इन सबकी गमनक्रिया त्रिलोक शिखरके ऊपर नहीं है। क्योंकि आगे गमनका कारण जो धर्मास्तिकाय सो नहीं है, जैसे जलके अभावमें मछलीकी चलनरूप क्रिया नहीं हो सकती। जहांतक धर्मास्तिकाय है वहीं क्षेत्रतक ही चेतन व अचेतन जड़ पुद्गल गमन करेंगे इसके आगे नहीं।

टीकाकार कहते हैं कि—जीव पुद्गल दोनोंकी गतिक्रिया तीन लोकके ऊपर नहीं हो सकती है क्योंकि आगे गमनमें सहायक जो धर्मद्रव्य उसका अभाव हो गया है।

आगे इस शास्त्रकी आदिमें जो नियम शब्द कहा गया है उसके फलको संक्षेपमें कहते हैं—

णियमं णियमस्स फलं, णिद्दिट्ठं पवयणस्स भत्तीए ।
पुव्वावरविरोधो, अवणीय पूरयंतु समयण्हा ॥ १८५ ॥

सामान्यार्थ—नियम और नियमका फल प्रवचनकी भक्तिकरके कहे गए हैं। यदि कहीं पूर्वापर विरोध आवे तो आगमके ज्ञाता उसको दूरकर उसकी पूर्ति करें।

विशेषार्थ—शुद्ध रत्नत्रयका व्याख्यान जो किया गया उसके द्वारा नियम शब्दको समझाया है। तथा इस नियमका फल परम निर्वाण है सो भी कहा गया।

यह सब कथन कविपनेके अभिमानसे नहीं किया गया है किंतु मात्र जिनवाणीकी भक्तिकरके ही किया गया है। यदि

कोई इस नियमसारमें पूर्वापर विरोधी दोष हो तो दोषको हटाकर आगमके ज्ञाता परम कवीश्वर उसको उत्तम प्रकार करें।

टीकाकार कहते हैं कि—यह नियमसार और उसका फल ये दोनों जयवन्त होहु। उत्तम सम्यग्दृष्टि पुरुषोंके हृदयरूपी सरोवरमें जब नियमसारका जन्म होता है तब यह शुद्ध रत्नत्रयरूप नियमसार उस जीवको निर्वृत्ति पुरुषकिये कारण होता है। यह नियमसार ग्रन्थ सूत्रकार श्री कुन्दकुन्दाचार्य स्वामीके द्वारा मात्र प्रवचन भक्तिके हो विचारसे गूंथा गया है। यह ग्रन्थ सम्पूर्ण भव्य जीवोंकेलिये निर्वाण प्राप्त करनेका एक निश्चय मार्ग है।

आगे भव्य जीवको शिक्षा देते हैं—

ईसाभावेण पुणो, केई णिंदंति सुन्दरं मग्गं।

तेसिं वयणं सोच्चा,—ऽभत्तिं मा कुणइ जिणमग्गे ॥ १८६ ॥

सामान्यार्थ—तथा कोई जीव सुन्दर मार्गको भी ईर्षाभावसे निन्दते हैं उनके वचनोंको सुनकर हे शिष्य! तू जिनमार्गमें अभक्ति न कर।

विशेषार्थ—जो कोई मन्द बुद्धि हैं तथा जो तीनों कालोंमें आवरण रहित नित्य एक आनंदमई स्वरूपवाले विकल्परहित निज कारण परमात्माके सम्यक् श्रद्धान ज्ञान और चारित्ररूप जो शुद्ध रत्नत्रय उसका विरोधी जो मिथ्यात्व कर्म उसके उदयके सामर्थ्य करके मिथ्यादर्शन ज्ञान चारित्रमें लीन हैं ऐसे मूर्ख जीव ईर्षाभाव करके सर्वज्ञ वीतरागके पाप क्रियाओंसे रहित सुन्दर मार्गकी भी निन्दा करते हैं।

कैसा है सुन्दर मार्ग, जो भेदोपचार अर्थात् व्यवहार रत्नत्रय स्वरूप तथा अभेदोपचार अर्थात् निश्चय रत्नत्रयस्वरूप है। अपने स्वरूपसे रहित उन मिथ्यादृष्टि जीवोंके खोटे हेतु और खोटे दृष्टान्तोंसे युक्त कुतर्कके वचनोंको सुनकर जिनेश्वर भगवान कथित शुद्ध रत्नत्रयके मार्गमें हे भव्य! अपनी अरुचि किंतु अपनी भक्ति ही करनी योग्य है।

टीकाकार कहते हैं कि—अहा देहरूपी

युद्धसे अति भयानक है, दुःखोंके समूहरूपी हिंसक पशु जहां फिर रहे हैं, समस्त जगतको नाश करनेवाली भयानक कालरूपी अग्नि जहां जल रही है, बुद्धिरूपी जल जहां सूख गया है, नानाप्रकारकी खोटी नय तिनके भयानक अंधकार जहां फैल रहा है ऐसे संसाररूप वनमई जगतमें मिथ्यादृष्टी जीवोंकेलिये एक जैन दर्शन ही शरणरूप है अर्थात् रक्षा करनेवाला है।

जिस प्रभुका ज्ञानरूपी शरीर लोक अलोकको अपनेमें रखने वाला है, व जिसने गृहस्थाश्रममें भलेही प्रकार बताकर समस्त सुजनको कन्यादान किया है अथवा विश्वव्यक्तिसे दोनों लोकको शोभित किया है ऐसे श्री नेमिनाथ तीर्थंकरकी स्तुति करनेकेलिये तीन भुवनमें ऐसे कौन देव या मनुष्य हैं जो समर्थ हो सकते हैं अर्थात् कोई नहीं हैं, तो भी इस जगतमें उनकी स्तुति किये जानेका कारण मात्र एक उनहीमें परम उत्साहरूपमई भक्ति ही है। मैं ऐसा मानता हूं।

आगे शास्त्रका नाम कहते हैं, शास्त्रके कथनको संकोचते हैं—

णियभावणाणिमित्तं, मए कदं णियमसारणामसुदं।
णच्चा जिणोवदेसं, पुव्वावरदोसणिम्मुक्कं ॥ १८७ ॥

सामान्यार्थ—मैंने यह नियमसार ग्रन्थ अपनी आत्मभावनाके निमित्त ही श्री जिनेन्द्रके पूर्वापर दोष रहित उपदेशको समझ करके किया है

विशेषार्थ—यहां पर आचार्य श्री कुन्दकुन्दाचार्य अपने प्रारम्भ किये हुए ग्रन्थको पूर्ण करके अपनेको अत्यन्त कृतार्थ मानते हुए कहते हैं कि मैंने इस शास्त्रको जिसका नाम नियमसार है केवल आत्मभावनाके लिये तथा अशुभ भावोंको हटानेके लिये रचा है।

कैसे हैं आचार्य, जो सैकड़ों परम उत्कृष्ट अध्यात्मशास्त्रोंके ज्ञानमें कुशल हैं। सो यह ग्रंथ जो मैंने (कुन्दकुन्दाचार्यने) रचा है सो कैसे रचा है, पूर्व ही बचपनसे अर्थात् माया शल्यरहित परम गुरुके प्रसादसे भले प्रकार इस जिनोपदेशको जानकरके रचा है। जो सर्वज्ञ वीतरागके मुखकमलसे प्रगट हुआ परम

कल्याणकारी परमोपदेशरूप है। तथा पूर्वापर दोषसे रहित है तथा पूर्वापर दोषके कारणरूप समस्त मोह राग द्वेष भावोंसे रहित जो आप्त अर्हंत देव उनके मुख कमलसे प्रगट होनेके कारण निर्दोष है।

इस नियमसार ग्रंथका तात्पर्य दो प्रकार है—कैसा है यह नियमसार ग्रंथ, जो सब आगमके सार्थक अर्थोंको कहनेमें समर्थ है, नियम शब्दसे विशुद्ध मोक्षमार्गका दिखलानेवाला है, जिसमें पंचास्तिकायका स्वरूप कहा है दर्शन ज्ञान चारित्र तप वीर्य ऐसे पांच आचारका प्रपंच इसमें सूचन किया है, जीव पुद्गलादि छः द्रव्योंके स्वरूप जिसमें वर्णन किया गया है, जो औदयिक आदि पांचों भावोंके प्रपंचको प्रतिपादन करनेवाला है, निश्चय प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, प्रायश्चित, परम आलोचना, नियम व्युत्सर्ग आदि सकल क्रियाकांडके आडम्बरसे वर्णनमें समृद्ध है। शुभ अशुभ शुद्ध ऐसे तीन प्रकार उपयोगको वर्णन करनेमें सामर्थ्य है।

ऐसे इस नियमसार ग्रंथका अभिप्राय दो भेदरूप है—एक सूत्रतात्पर्य, दूसरा शास्त्र-तात्पर्य। सूत्रका तात्पर्य तो पद्यकी रचनाके द्वारा प्रत्येक सूत्रमें कहा गया है।

शास्त्रका तात्पर्य यह है कि यह ग्रंथ भोगने योग्य है—अनुभव करने योग्य है। भागवतकी सुन्दरी अर्थात् श्री उसके उत्पन्न जो परम वीतरागमई अव्यावाध निरंतर अतीन्द्रिय परम आनन्द उसको देनेवाला है। तथा यह शास्त्र श्रेष्ठ अतिशयरूप नित्य शुद्ध, तथा निरंजन निज कारण परमात्मा उसकी भावना करनेका कारण है, समस्त नयोंके समूहोंसे शोभित है, पंचमगति जो मोक्ष उसके कारणरूप है। तथा पचेन्द्रियके फैलावसे रहित शरीर मात्र परिग्रहके धारी आचार्य द्वारा रचा गया है।

जो कोई भव्यजीव निश्चय और व्यवहार नयोंके विरोध रहित जानते हैं वे महान पुरुष समस्त अध्यात्म शास्त्रके हृदयके जाननेवाले परमानंद वीतराग सुखके अभिलाषी होते हैं। वे बाह्य और आभ्यन्तर चौबीस प्रकारके परिग्रहको देते हैं और तीनोंकालमें अपरिग्रह स्वरूप

निज कारण परमात्मस्वरूप स्वच्छ श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप भेदोपचार कल्पनाकी अपेक्षारहित अपने आत्मामें लीन ऐसा जो अभेद रत्नत्रय उसमें लीन होते हैं वे ही शाश्वतरूप सहज जो अविनाशी सुख उसके भोगनेवाले हो जाते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि—इस शास्त्रको ईस सुकविजनरूपी कमल उनके प्रफुल्ल करनेको सूर्य ऐसे पद्मप्रभु द्वारा सुन्दर पदके समूहोंसे रची गई है। जो कोई विशुद्ध आत्माका इच्छुक इस तात्पर्य वृत्तिको अपने मनमें धारण करता है वह मोक्षरूपी सुन्दर स्त्रीका वर होता है। पद्मप्रभ नामधारी चन्द्रमाके प्रगट किरणोंकी मालाके समान जो यह शास्त्रकी रचना सो सदा ही चित्तमें स्थिर रहे। इस वृत्तिमें जो कोई पद लक्षणशास्त्रसे विरुद्ध हो तो उसको शोध करके परम कविजन उत्तमपद स्थापित करें।

टीकाकारका जो अंतिम श्लोक है उसका भावार्थ—ऐसा है कि जबतक यह चंद्रमा अपने ताराओंके साथ सदा अपने सुन्दर गगनके मार्गमें शोभे तबतक यह तात्पर्यवृत्ति नाम टीका सज्जन पुरुषोंके निर्मल चित्तमें सदा अपना निवास स्थिर रक्खे। कैसी है वृत्ति, जिसने त्यागने योग्य समस्त औपाधिक वृत्तियोंका उपहास किया है।

इसप्रकार सुकविजन कमलोंके लिये सूर्यके समान पंचेन्द्रियके प्रसारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्री पद्मप्रभमलधारि देवद्वारा रचित श्री नियमसार प्राकृतग्रंथकी तात्पर्यवृत्ति नामकी व्याख्यामें शुद्धोपयोग नामका बारहवाँ श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

संस्कृत श्लोक संख्या २६१४॥

दोहा—श्री जिन वीर सु मोक्ष तिथि, प्रात रवि दिनमान।
चौविसमै अड़तिस शुरू, भाषा पूरण जान॥

इति भाषाटीका समाप्ता।

—ब्र० सीतल।

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

निज कारण परमात्मस्वरूप उसके श्रद्धान ज्ञान और आचरणरूप भेदोपचार कल्पनाकी अपेक्षारहित अपने आत्मामें लीन ऐसा जो अभेद रत्नत्रय उसमें लीन होते हैं। वे ही शाश्वत स्वरूप जो अविनाशी सुख उसके भोगनेवाले हो जाते हैं।

टीकाकार कहते हैं कि—इस शास्त्रकी वृत्ति सुकविजनरूपी कमल उनके प्रफुल्लित करनेको सूर्य ऐसे पद्मप्रभ द्वारा सुन्दर पदके समूहसे रची गई है। जो कोई विशुद्ध आत्माका इच्छुक इस तात्पर्य वृत्तिको अपने मनमें धारण करता है वह मोक्षरूपी सुन्दर स्त्रीका वर होता है। पद्मप्रभ नामधारी चन्द्रमासे प्रगट किरणोंकी मालाके समान जो यह शास्त्रकी रचना सो सदा ही चित्तमें स्थिर रहे। इस वृत्तिमें जो कोई पद लक्षणशास्त्रसे विरुद्ध हो तो उसको लोप करके भद्र कविजन उत्तमपद स्थापित करें।

टीकाकारका जो अन्तिम श्लोक है उसका भावार्थ—ऐसा है कि जबतक यह चन्द्रमा अपने तारागणोंके साथ सदा अपने सुन्दर गमनके मार्गमें शोभे तबतक यह तात्पर्यवृत्ति नाम टीका सज्जन पुरुषोंके निर्मल चित्तमें सदा अपना निवास स्थिर रक्खे। कैसी है वृत्ति, जिसने त्यागने योग्य समस्त व्यावहारिक वृत्तियोंका उपहास किया है।

इसप्रकार सुकविजन कमलोंके लिये सूर्यके समान पंचेन्द्रियके प्रसारसे रहित शरीरमात्र परिग्रहके धारी श्री पद्मप्रभमलधारि देवद्वारा रचित श्री नियमसार प्राकृतग्रन्थकी तात्पर्यवृत्ति नामकी व्याख्यामें शुद्धोपयोग नामका बारहवां श्रुतस्कंध पूर्ण हुआ।

संस्कृत श्लोक संख्या २६१४ ॥

दोहा—श्री जिन वीर सु मोक्ष तिथि, प्रात रवि दिनमान ।
चौविसमैं अडतिस शुरू, भाषा पूरण जान ॥

इति भाषटीका समाप्ता।

—ब्र० सीतल।


समाप्तोऽयं ग्रन्थ।
